हिंदुस्तानी

[त्रैमासिक]

प्रधान संपादक
डॉ० माताप्रसाद गुप्त, एम० ए०, डी०लिट्०
सहायक संपादक
डॉ० सत्यव्रत सिन्हा, एम० ए०, डी०फिल्०

●

[भाग २२ : अंक २]
अप्रैल-जून
१९६१

●

लेख-सूची

१. विस्मृत प्राय प्राचीन हिन्दी लोक-गीत — ३
श्री अगरचन्द नाहटा, नाहटों की गवाड़, बीकानेर

२. ब्रजभाषा के लिङ्ग-वचनीय रूपग्राम — १३
डॉ० अम्बाप्रसाद 'सुमन', एम० ए०, पी-एच० डी०, प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, अलीगढ़ विश्वविद्यालय, अलीगढ़

३. प्राचीन भारतीय ज्योतिष तथा गणित भूगोल — २१
श्री मायाप्रसाद त्रिपाठी, एम० ए०, रिसर्च स्कॉलर, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग

४. नाट्य में शान्तरस — ३७
श्री शंकर दत्त ओझा, लेक्चरर, संस्कृत विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़

५. हिन्दी की ध्वन्यात्मक शब्दावली — ४६
डॉ० कैलाशचन्द्र भाटिया, एम० ए०, पी-एच० डी०, प्राध्यापक, हिन्दी-संस्कृत विभाग, मुस्लिम विश्वविद्यालय, विष्णुपुरी, अलीगढ़

६. बुन्देलखंड में चंदसखी के भजन और लोक-गीत — ५६
डॉ० शालिग्राम गुप्त, शान्ति-निकेतन, बंगाल

७. प्राचीन भारत में नगरों का आर्थिक जीवन तथा संगठन — ६१
डॉ० उदयनारायण राय, प्राचीन इतिहास विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग

८. पं० लल्लू लाल—जीवनी और समस्याएँ — ७१
डॉ० आशा गुप्त, एम० ए०, पी-एच० डी०, मुल्तान सिंह बिल्डिंग, काश्मीरी गेट, दिल्ली

सूचना

१. हिंदुस्तानी पत्रिका का प्रकाशन त्रैमासिक रूप में होगा।
२. पत्रिका की एक प्रति का मूल्य २·५० नए पैसे तथा वार्षिक मूल्य १० रुपये होगा। वार्षिक ग्राहक को डाक-व्यय नहीं देना पड़ेगा।
३. लेखों के विषय मुख्यतः भाषा, साहित्य, संस्कृति, इतिहास, पुरातत्व तथा दर्शन संबंधी होंगे।
४. केवल उच्चस्तर के मौलिक, खोजपूर्ण तथा वाद-मुक्त लेख ही स्वीकृत किए जावेंगे।
५. प्रकाशित लेखों पर एकेडेमी का समस्त मुद्रणाधिकार होगा। उनके अन्यत्र प्रकाशन तथा अनुवाद आदि की स्वीकृति एकेडेमी से लेनी होगी।
६. पत्रिका में समीक्षार्थ पुस्तकों की दो प्रतियाँ भेजी जानी चाहिए।

हिंदुस्तानी

[त्रैमासिक]

प्रधान संपादक

डॉ० माताप्रसाद गुप्त, एम० ए०, डी० लिट्०

सहायक संपादक

डॉ० सत्यव्रत सिन्हा, एम० ए०, डी० फिल्०

●

[भाग २२ : अंक २]

अप्रैल-जून

१९६१

●

हिन्दुस्तानी एकेडेमी

उत्तर प्रदेश

एक प्रति

२·५० नए पैसे

संपादक-मंडल

मुद्रक

रामप्रताप त्रिपाठी, शास्त्री

सम्मेलन मुद्रणालय, इलाहाबाद

विस्मृत प्राय प्राचीन हिन्दी लोक-गीत

श्री अगरचन्द नाहटा

१३वीं शताब्दी से प्राचीन राजस्थानी या गुजराती भाषा में जैन विद्वानों ने साहित्य निर्माण करना आरम्भ किया, पर १५वी शताब्दी से पहले की भाषा मे अपभ्रंश का प्रभाव पाया जाता है। उसके बाद की भाषा काफ़ी सरल है और तभी से लोककथाओं को लेकर अनेक रास, चौपाई आदि ग्रन्थ लिखे गये और उन ग्रन्थों में छन्दशास्त्रोक्त छन्दों को कम स्थान देकर, लोक-गीतों की देशियों में उन चरित्र-काव्यों और स्तवन सज्झाय आदि की ढालें रची गईं। प्रत्येक ढाल या तर्ज के आरम्भ में जिस लोक-गीत की चाल या तर्ज पर वह ढाल बनाई गई, उस लोक-गीत की प्रथम पंक्ति या उसका नाम उल्लिखित कर दिया गया है। जिससे प्रत्येक व्यक्ति उन स्तवन सज्झाय और ढालों को लोक-प्रचलित गीतों की तर्ज में गाकर रसमग्न हो सके। रामायण आदि बड़े-बड़े काव्यों में भिन्न-भिन्न प्रकार की दस-बीस से लेकर सौ तक ढालें होती हे और प्रायः प्रत्येक ढाल भिन्न-भिन्न लोकगीत की शैली पर रची व गाई गई है।

श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय का प्रचार राजस्थान एवं गुजरात में अधिक रहा। इसलिए रास, गीत आदि में वहा की प्रसिद्ध लोक-गीतों की देशियों का अधिक प्रयोग मिलता है और उन गीतों की चाल पर बनी हुई वे ढालें भी बहुत लोक-प्रिय हो गईं। इसलिए परवर्ती रास एवं स्तवन आदि के रचयिताओं ने उन प्रसिद्ध जैन रचनाओं की देशियों का भी उल्लेख करना आरम्भ कर दिया। फिर भी हजारों लोक-गीतों के नाम उन्हीं प्रथम पंक्ति रासादि जैन रचनाओं में उद्धृत् एव उल्लिखित मिलती हैं। श्री मोहनलाल दलीचन्द देसाई ने अपने 'जैन गुर्जर कवियों' भाग ३ के परिशिष्ट ७ में "देशियों की अनुक्रमणिका" अकारादि क्रम से दी है, उसमें २३२८ देशियो की सूची प्रकाशित हुई है। कौन-सी देशी को किस-किस कवि ने कब और अपनी कौन-सी रचना मे कहाँ प्रयुक्त किया है, इसका भी निर्देश उक्त सूची में किया गया है। वास्तव में श्री देसाई ने इस सूची के तैयार करने मे बहुत ही श्रम किया है। जब यह ग्रन्थ छप रहा था तो उन्होंने मुझे इसके फर्मे भेजे थे। मैंने अपने संग्रह में जो कुछ देशियों के संग्रह के पत्र थे, वे उन्हें भेज दिये, जिनके आधार मे उन्होंने ११३ देशियों का प्राप्त पाठ अपने उक्त ग्रन्थ में देशियो की अनुक्रमणिका के बाद प्रकाशित किया है। इस देशियों की सूची के आधार से मैंने कई राजस्थानी लोक-गीतों की प्राचीनता का निर्धारण किया है।

जैन रास चौपाई आदि रचनाओं में कुछ ऐसी देशियों की प्रथम पंक्तियाँ उद्धृत मिलती हे जो हिन्दी भाषा के लोक-गीतों की हैं। ऐसी देशियां मुख्य रूप से दो प्रकार की हैं—एक तो श्रीकृष्ण, मथुरा, वृन्दावन आदि से संबंधित लोक-गीतों एवं भजनों की हैं जिनकी संख्या शताधिक है। पर यहाँ ऐसी देशियों के संबंध में विचार नहीं किया जायगा। दूसरे प्रकार की हिन्दी

भाषा की ऐसी देशियां है जो सर्वसामान्य लोक-गीत के रूप में प्रचलित रही है। यहां ऐसी ही कुछ देशियों से संबंधित प्राप्त उदाहरण प्रकाशित किये जा रहे हैं। इन देशियों वाले प्राचीन हिन्दी लोकगीतों की खोज की जानी आवश्यक है। राजस्थान, गुजरात में प्राचीन संस्कृति अधिक सुरक्षित रही है, पर हिन्दी प्रदेश में मुसलमानी साम्राज्य के समय प्राचीन साहित्य संस्कृति बहुत कुछ नष्ट हो गई। इसलिये उतने प्राचीन लोक-गीत बच नहीं पाये।

अब हिन्दी लोक-गीतों के उन प्राचीन व प्रसिद्ध लोकगीतों की देशियों की सूची दी जा रही है जो श्रीकृष्ण, मथुरा, वृंदावन[1] से सम्बन्धित न होकर सर्वसामान्य हैं। इन देशियों की तर्ज में किस-किस जैन कवि ने अपने किस संवत् की कौन-सी रचना को कौन-सी ढाल में किया है, उसका भी विवरण दिया जा रहा है:—

१. अंखियन मे गुलजारा—काफी (राग)
प्र० (वीरविजय कृत चौसठ प्रकारी पूजा संवत् १८७४)

२. अखियां हरखन लागी, हमारी अंखियां—प्रभाति (राग)
(देवचन्द्र कृत चोवीश जिनेश्वर स्त० चोवीशी)

३(१७)[2]. अति रंग भीने हो रंग भीने हो मोहन लाल—केदारा (राग)
(समय सुन्दर कृत नल-दमयन्ती, रास खंड ५, ढाल ५, संवत् १६७३, ज्ञान मेरू कृत गुणकरंड गुणावली रास संवत् १६७६ तथा प्रथम कांति विजय स्त० चोवीसी में शांतिमास)।

४(१८०). इतने इतना क्या करणा
(ऋषभदास कृत हीर विजय रास, सं० १६८५)

५(२११). उड भंवरा कंकणी पर बैठा नथणी से ललकारूंगी, उड़जा रे भंवरा तुझे मारूंगी—आसावरी (राग)
(वीर विजय कृत चौसठ प्रकारी पूजा, संवत् १८७४)

६(२६८). मोती मेरो जीव का प्यारा, आयर की मुरति परै नख में उतर्‌या, मुरति पन थमइ उतार्‌या, साहिबा, मोती द्योजी हमारो—कैदारो
(ज्ञानसागर कृत इलाची कुमार रास ढाल ७, संवत् १७१९, नदिषेण ढाल ७, संवत् १७२५)।

७(२७२). एही यार गुन्डो मन को मेल मुन्डो (उही एक मुंडो मन को मेलो मुंडो—केदारा)
(ज्ञानसागर कृत चित्र संभूति रास ढाल २६, सं० १७२१)
(मोहन विजय कृत रत्नपाल राम रास, खंड १, ढाल १०, संवत् १७६०)

८(२७३). ऐसा सोदागर कुंचलण न देसुं
(कनक सुन्दर कृत हरिश्चन्द्र रास ढाल १, संवत् १६९७)

---

१. ऐसे लोक-गीत एवं भजन भी प्रचुर हैं, अतः उनके सम्बन्ध में स्वतन्त्र लेख प्रकाशित किया जायगा।

२. ये नम्बर देशाई के प्रकाशित सूची के हैं।

९ (२७८) एसी जागणी का जोग माया जाण नहीं
(सौजन्य सुन्दर कृत द्रौपदी रास ढाल २५, संवत् १८१८)

१०(२९०). क्या जानूं कछु कीनो रे फकीरवा !
(न्याय सागर कृत 'वीशी', युग मंधर स्तवन, १८वी शदी)

११(२९६). कठिन वचन की प्रीत
(कांतिविजय कृत 'चोवीशी' कुंथु स्तवन, १६वी)।

१२(३०७). कब ही मिलोगे साहिब मोरा
(भावशेखर कृत रूपसेन. रास, संवत् १६८३)।

१३(३४५). काची कली अनार की रे हां सुवटो रह्यो लुभाय (भ्रमर रह्यो ललचाय) (मेरे डोलना)—राग केदारो गोड़ी
(समय सुन्दर कृत प्रत्येक बुद्ध रास खंड १,ढाल ४, संवत् १६६५ तथा थावच्चा चौपाई ढाल १८ संवत् १६९१; ज्ञान सागर कृत श्रीपाल रास ढाल ९, संवत् १७२६, खरतर जयरंग कृत कयवन्ना रास ढाल २४, संवत् १७२१, जिनचन्द्र सूरि कृत मेघकुमार रास ३१, संवत् १७२७; दीप्ति विजय कृत मंगल कलश रास खं० १ ढाल १०, संवत् १७४९)।

१४(३८५). किसके वे चेले किसके वे पूत, आतम अकेला है अवधूत जीव जानलो
(परमसागर कृत विक्रमादित्य रास ढ़ाल २२ संवत् १७२४, मोहन विजय कृत पुण्यपाल रास २६, संवत् १७६३, क्षेमवर्द्धन कृत सुरसुन्दरी रास ३३, संवत् १८५२)

१५(३८६). किसन पुरी की नजर बुरी, हाथ में ठिकरो ने काख में छुरी।
(जिन हर्ष कृत शत्रुंजय रास खं० ३, ढाल २८, सं० १७५५)

१६(३५६). गारी मत देरे फकीरवा
(न्याय सागर कृत वीशी वज्रधर जिन स्तवन, १८वीं शदी)

१७(४९१). गोरी के नयन बडे बड़े रे लाला
(उदयरत्न कृत भुवनभानु रासा ढा० ९२, सं० १७६९)।

१८(४९२). गोरी के नयन सो गोफन गोला
(भाणचन्द्र कृत चोवीशी विमलस्तवन, १८वीं शदी)।

१९(५२४). घेरी घेरी रे पण घेरी रे, मोकुं या विरहा ने घेरी
(मोहन विजय कृत नर्मदा सुन्दरी रास ढाल ४२, सं० १७५४)

२०(५४४). चतुरे में चतुरी कौन ? जगत की मोहनी।।
(वीर विजय कृत ९९ प्रकारी पूजा सं० १८८४)

२१(५४१). चतुर सनेही मेरे लाला, विनती सुनो कंत रसाला
(समय सुन्दर कृत नल-दमयन्ती रास खंड ८, ढ़ाल ८, संवत् १६७३)—राग केदारो (राज रत्न कृत विजयसेठ ढाल २, संवत् १६९६; जिनहर्ष कृत वीसस्थानक रास द्वितीय ढाल ३ सवत १७४८

२२ ५५७ चदा मेर भाई हा गोट विछाऊ
(विनयविजय कृत वीशी अजितवीय स्तवन १८वा शता)

२३(५८७). चुनी चुनी कलियां मैं सेज बिछाऊं, फूला गा गजरा
(मोहन विजय कृत नर्मदा सुन्दरी रास ढाल ३५ संवत् १७५४)

२४(७३०). झांखर दीवा न बले रे, छीलरी कमल न होई
छोरि मूरख मेरी बांहुरी, मियां! जोरे प्रीति न होई; कन्हैया
वे यार लबासिया, जोछन जासिया वे, बहुरन आमिया—मारुणी
(यह गीत सिंध में प्रसिद्ध है। समयसुन्दर कृत सीताराम चौपाई खंड ८, ढाल २, संवत् १६८७)।

२५(७४०). ठमकि ठमकि पाय नेऊरि बजावै, गज गति बांह लुडावे, रंगभीनी ग्वालणी आवे—
राग कन्हड़ो।
(समयसुन्दर कृत सीताराम चौपइ खंड ९, ढाल ३, संवत् १६८७)।

२६(७४५). ढिल्ली के दरबार में, लख आवे लख जाई,
एक न आवे नवरंग खां, जाकी पघरी ढली ढली जाई।
नवरंग बैरागी लाल—राग हुसैनी धन्याश्रि मिश्र।
(समयसुन्दर कृत सीताराम चौपाई खंड ९, ढाल ४, संवत् १६८७)।

२७(७९०). तुम रहो रे आजिम, दो घरीया।
(न्याय सागर कृत ढाल पहली, चोबीसी कुंथ स्तवन, १८वीं शताब्दी)।

२८(८११). तेरी बीबी को ले गये गुलाम मियां खड़ा देखता।
(वीर विजय कृत धम्मिल रास खंड ३, ढाल १०, संवत् १८९६)।

२९(८५२). दयुंगी रे बधाई।
(जिनहर्ष कृत विद्याविलास रास ढाल २३, संवत् १७११)।

३०(८५८). दखिनी लोहे रे पाति साहि रे साठ सहेल्यां नाह।
जाने के चमकी बीजुरी, लाला कीरी बदरी माहि।
मइया मोरी दखिनी आनि मिलाई।
लाला झिलत्यां सेज्यां मांहि—मइया।
(ज्ञान कुशल कृत पार्श्वनाथ स्तवन खंड १, ढाल १२, सं० १७०७)।

३१(८९५). दुना दे री सजनी दुना दे री
(क) (नेम विजय कृत शीलवती रास खण्ड ६, ढाल १६, सवत् १७५०)।

३१(९०२). दूणां दे रे मोडया दूणा दे रे।
(ख) (जिन हरख कृत कुमार पाल रास ढाल ४६, संवत् १७४२)।

३२(९०४). देवर दूर खड़ा रहो, लोगां भरम धरेगा।
(गंगविजय कृत कुसुमश्री रास ढाल २५, संवत् १७७७)।

३३(९२२). देहु देहु नणद हठीली, कियां निकस फरेंगी कीली री—राग सारंग।
(ज्ञान सागर कृत शांतिनाथ रास ढाल २० संवत् १७२० धम मंदिर कृत

मुनिपति रास ढाल १५, सवत् १७२५, क्षमवद्धन कृत सुरसुन्दरी रास ढाल ३०, मुनिपति संवत् १८५२; रूप विजय कृत ४५ आगम पूजा संवत् १८८५)।

३४(९२५). दो नेणां दा मार्या छोहर पायल्यूं, लैं घर आऊंदा भोरा देहु दीदार लाल चहुं हूं नैण दा।

(लाभवर्द्धन कृत धर्म-बुद्धि चौपइ ढाल ११, सवत् १७४२)।

३५(९७१). नणद हे मोहन मुन्दरी ले गयो।

(जिन हर्ष कृत उपमिति भव प्रपंचा रास ढाल १६, संवत् १७४५)।

३६(९७५). नदी जमुना के तीर, उडे दोई पंखिया
पीउवान पलक नही धार, दु:खि रहे अंखिया'—केदारो।

(ज्ञान सागर कृत ईलाची कुमार रास, ढाल ९, संवत् १७१९, जयरंग कृत कयवन्ना रास ढाल ४, संवत् १७२१; धर्म वर्द्धन कृत सुरसुन्दरी रास खण्ड२ ढाल २, संवत् १७३६; जिनवर्द्धन कृत रास संवत् १७१०; नेमविजय कृत शीलवती रास खण्ड १, ढाल ९, सवत् १७५०; उदयरत्न कृत सुदर्शन रास ढाल २, संवत् १७८५; जिन हर्ष कृत उपमिति भव प्रपंचा रास ढाल ९२, सवत् १७४५; जिन हर्ष कृत महाबल रास खण्ड १, ढाल २०, सं० १७५१; सुन्दर कृत चोवीशी ढाल २३ संवत् १८२१; वीर विजय कृत धम्मिल रास खण्ड २, ढाल ६, संवत् १८९६)।

३७(९९६). नयन हमारे लालनां।

(लब्धि विजय कृत हरिबल मच्छी रास खण्ड ३, ढाल ६, संवत्१८१०)।

३८(१०३८). नारी अब हम कुं मोकलउ।

(पुण्य कीर्ति कृत पुण्यसार ढाल ५, संवत् १६६२; चन्द्रकीर्ति कृत धर्म-बुद्धि पाप बुद्धि रास खण्ड २, ढाल १७, संवत् १६८२)।

३९(१०७३). प्यारे मो कुं ले चलो।

(पद्म विजय कृत जयानन्द रास खण्ड ९, ढाल ९, संवत् १८५८)।

४०(१०७४). प्यारे सज्जन सांई तूं आवरे सज्जन साई।
तू आवरे वोल्याइ हरि दाण्या में सु काम न आये, प्यारे सज्जना साई।

(न्यायसागर कृत पहली चोवीशी विमल स्तवन, संवत् १७८०)।

४१(१११७). पिव चले परदेश, सबै गुण ले चले।

(जिनराज सूरि कृत गजसुकुमार रास ढाल १८, संवत् १६९९; जयरंग कृत अमरसेन वयरसेन चौ० ढाल १८, सवत् १७००)।

४२(१११५). पिव राखु रे प्राण आधार।

(नयन सुन्दर कृत शत्रुंजय रास ढाल ९, संवत् १६३८)।

४२(११०८). पिव राखु रे प्राणाधार—मारुणी
(क)· (जयवंत सूरि कृत ऋषदत्ता रास संवत् १६४३)।

---

१ जोऊ मेरा पिव की बाट फरू के अंखिया

४३(११९७). प्रीतम तुझ मुख चन्द्रमा, दुइ मुझ नैन चकोर ।

(जिनराज सूरि कृत शालिभद्र चौपाई ढाल २०, संवत १६७८)।

४४(११५१). परदेसिया से मोरी अखिया लगी।

(जिनहर्ष कृत कुमारपाल रास ढाल १०६, संवत् १७४२ तथा हरिबल रास ढाल २४, संवत् १७४६)।

४५(११९२). पिव चले परदेस, कटक यात्रा भणी

(जिन चन्द्र सूरि कृत मेघकुमार रास ढाल ३०, सं० १७२७)।

४६(११९४). पिव जी पिवजी नाम जपुं दिन रातियां,
पिव चल्या परदेस तपै मोरी छातियां।

(परमसागर कृत विक्रमादित्य रास ढाल ३१, संवत् १७२४;
मानसागर कृत विक्रम सेन खण्ड १, ढाल ११, संवत् १७२४; देवचन्द्र वीशी ढाल ११ मुं स्तवन सं० १७७० आसपास)।

४७(१२२४). परके फाग मेरे पिव संग खेली, अबीर गुलाल उड़ाय।

(पुण्यसागर कृत अंजना रास खण्ड ३, ढाल ४, संवत् १६८९)।

४८(१२७९). बीबी दूरि खड़ी रहो लोकां भरम धरेगा।

(अमरचन्द कृत विद्या विलास रास, खण्ड २, ढाल ९, संवत् १७४५, राधनपुर)

४९(१२८४). वे कोई दोरि मिलावे पिव ने

(मोहन विजय कृत हरिवाहन रास ढाल १३, सं० १७५५)।

५०(१२८५). बेटी टोडर मल्ल की.

(उदयरत्न कृत भुवनभानु रास ढाल ७८, सं० १७६९)।

५१(१३५१). मइया मोहि दिखणी आंणि मिलाइ

(जिनहर्ष कृत महाबल रास खण्ड ३, ढाल ९, संवत् १७५१)।

५२(१३६६). मधुक आज रहो रे जिन चलो।

(जिनहर्ष कृत कुमारपाल रास ढाल ९५, संवत् १७४२)।

५३(१३७३). मन को प्यारो तन को प्यारो ।

(समय सुन्दर कृत प्रत्येक बुद्ध चौपाई खण्ड २, ढाल १, संवत् १६६५; जिनहर्ष कृत उपमिति भवप्रपंचा रास ढाल १२०, संवत् १७४५ तथा शत्रुंजय रास खण्ड ९, ढाल १०, संवत् १७५५)।

५४(१४७४). माली तेरे बाग में दोई नारंग पके लो—राग काफी

(ज्ञानसागर कृत इलाची कुमार रास ढाल २, संवत् १७१९; गर्ब आषाढ़ भूति रास ढाल १३, संवत् १७२४; उदय रत्न कृत भुवन भानु रास ढाल २५, सं० १७६९)।

५५(१४८०). म्हारा रे भाई किसका गुण **मावाना** (गावाना)

(मोहनविजय कृत चंद रास खण्ड ४ ढाल ५ संवत१७८३)।

५६(१५२७) मुलक सके हूड़ा बे, मेरा तालब यार सिधारा,

(केसर कुशल कृत बीशी ७, मुंस्तवन संवत् १७३६)।

५७(१५४०) मैं जाण्यो नहीं विरहो (बिछुरन) ऐसौ रे होई :

(जिन हर्ष कृत शत्रुंजय रास खण्ड ८, ढाल ५, संवत् १७५५)

५८(१५५१) मेरी गगरी उतारि

(जिन हर्ष कृत महाबल रास खण्ड २, ढाल २१, सं० १७५१)

५९(१५५६) मेरे आतम का आधार रे।

(नेमविजय कृत शीलवती रास (खण्ड ४, ढाल ५, संवत् १७५०)

६०(१५५७) मेरे एही चाहिए।

(लावण्यचन्द्र कृत साधु वंदना ढाल ११, संवत् १७३४).

६१(१५१०) मेरे मन ऐसी आय बनी-देवगंधार

(यशोविजय का पद-प्रभु मेरे अईसी आय बनी भाव विजय कृत चोवीशी मुनि सुव्रत स्तवन)

६२(१५६३) मेरो नाह निडर अभिमानी।

(उदयरत्न कृत भुवन भानु रास ढाल ७५, सं० १७६९)।

६३(१५६८) मैं वुढरा कुं खीर पकाई, झाड़ि चल्यो लपटो देई,
मार्यो मरण गयो बुढ़रो, देई मार्यो मरण गयो।

(जिन हर्ष कृत महाबल रास खंड ४, ढाल ३७, संवत् १७५१)।

६४(१५७९) मो मन भवन बिसाल साईयां मो मन—

(पद्म विजय कृत नव पद पूजा संवत् १८३८)।

६५(१५८०) मो मन रौ होडाव हो मिसरी ठाकुर मंहि घरौ,

(समय सुन्दर कृत थावच्चा चौपाई खण्ड २, ढाल १, संवत् १६९१)।

६६(१६२३) रे बारी के छोहरा—राग भीम पलासी।

(मालदेव कृत पुरंदर चौपाईढाल ११, सं० १६१२)।

६७(१६२५) रयणि के तारे माइ झिलमल,

(समय सुन्दर कृत प्रत्येक बुद्ध ख० ३, ढाल १६ सं० १६६५)।

६८(१६२८) (क) डोरी मोरी आवे हो रसीया कड़तले-रसिया की

(A. मोहन विजय कृत रत्नपाल रास खं २, ढाल ५, सं० १७६०)।

(B. मोहन विजयकृत मानतुंगरास सं० १७६०)।

(C. परमसागर कृत विक्रम ढाल ४१, सं० १७२४)।

६९(१६४६) राज पधारो मेरे मन्दिर।

(वीरविजय कृत ६४ प्रकार की पूजा संवत् १८७४)।

७०(१७३६) लाल लाल जैसी तेरी अंखियां रे जैसी जलती मसाल।

(वीरविजय कृत चन्द्रशेखर रास सं० १९०२

७१(१८२३) वालिम ऐसी प्रीति कराओ।

(न्यायसागर कृत बीशी महाभद्र जिन स्तवन, १८वीं शदी)

७२(१९१३) वेसर गई रे गमाई, म्हारी नानड़ी देवुरी,

पाई लाल, वेसर दे कोटवाल सुणीगोर लाल वेसर दे।

(ज्ञानसागर कृत श्रीपाल रास ढाल ७, संवत १७२६ एवं आ

ढाल ३, संवत् १७२७; भावरत्न कृत बीशी संवत् १७८०; रूप वि

आगम पूजा संवत् १८८५।

७३(१९१४) वेसर सोना की घरि दे चतुर सोनार,

वेसर पहरी सोना की रंग्रे नद कुमार—आसावरी।

(समय सुन्दर कृत सीताराम रास खण्ड ४, ढाल १, संवत् १

७४(१९९६) सफल भई मेरी आजु की घरिया—राग बंगाली केरबा।

(वीरविजय कृत ६४ प्रकारी पूजा सं० १८७४)।

७५(२०२४) सहर दिल्ली के बाग में दोय नारंग पक्कया लोय रे।

(जिनहर्ष कृत चंदन मलयागिरी ढाल २०, सं० १७४४)

७६(२०४७) साथैं चलूंगी लारैं फिरंगी—मारवीनी।

(ज्ञानविमल कृत जबूरास ढाल ११, सं० १७३८)।

७७(२०७७) साहिजहां के बाग में, दो नारंग पकावे लो अहो,

[दोय कलियां पकी लो लौंड हो लुडिदा साहिबडा या लो]

(सत्यासागर कृत देवराज रास खण्ड ३, ढाल ३, सं० १७९९)

[लाभ वर्द्धन कृत विक्रमादित्य रास सं० १७२७]।

७८(२०७८) साहिब अब मोहि राखो दिल घरियैं।

(ज्ञानसागर कृत गुणवर्मा रास खण्ड ६, ढाल ३, सं० १७९।

७९(२०७९) साहिब कब मिलैं ससनेही प्यारो हो।

(न्याय सागर कृत शान्ति जिन स्वतन)।

८०(२३१०) हो प्रीतम तुम बिना मेरो न कोई।

(नेम विजय कृत शीलवती रास खण्ड ६, ढाल ३, संवत् १७५

८१(२३११) हो मतवाले साजना रजनि आज रही न रे।

(मोहनविजय कृत चंदरास खण्ड ३, ढाल १, संवत् १७८३

चौबीसी स्तवन ११वाँ सं० १७२० लगभग।

८२(२३१३) हो मतवाले साजना, मुझ कोई न छेड़ो वे।

(उदयरत्न कृत भुवनभानु रास ढाल ५२ संवत् १७६९)।

८३(२३१३) हो मित्र! जाण्या मर्म तुमारा (जिनविजय चौबीसी १८वीं)।

और भी बहुत सी हिन्दी देशियां हैं पर इनमें सभी लोक-गीत नहीं ह

भजन, स्तवन आदि साहित्यिक रचनाए भी होंगी फिर भी जो कुछ

वे ३५० वर्ष तक के प्राचीन होने स महत्त्व के हैं जो लोक-गीत नहीं

संवतों की रचनाओं में उनका उल्लेख व उद्धरण है वे उस समय तक काफी लोक प्रचलित हो चुके थे।

देशाई ने २३२८ देसियों की अनुक्रमणिका देने के बाद हमारे संग्रह के देशियों के हस्त-लिखित-पत्रों से ११३ देशियों के उद्धरण और दिये हैं, उनमें भी कुछ हिन्दी के हैं यद्यपि कुछ देशियों की एक पंक्ति पहले की सूची में आ गई है, फिर भी इस सूची में उसी देशी की अधिक पंक्तियाँ लिखी हुई हैं। इसलिए उन्हें भी नीचे दिया जा रहा है:—

(१) अरे मेरे आछे लाल तुम बिन पल न रहूँ। मेरे आछे०
एक वन ढूढ़ि सकल वन ढूंढूं प्रीतम कहूं न लहूं।—मेरे
(मेरे नेम विजय कृत शीलवती रास खण्ड ६, ढाल ७ संवत् १७५०)
मोहन विजय कृत हरि वाहन रास ढाल १९; संवत १७५५;
मोहन विजय कृत हरि वाहन मानतुंग मानवती रास ढाल १५'
मोहन विजय कृत हरि वाहन रत्नपाल रास खण्ड २, ढाल १३, सं० १७६०;
सौजन्य-सुन्दर कृत द्रोपदी रास ढाल ४४, सवंत १८१८)

(२) आज रयणि वसि जाऊँ प्रीतम साँवरे ?
या तन का पिंजरा करूँ रे ते में राखूं तोहि।
जवह पिया तुम गमन करोगे मुंइ सुणोगे मोहि। प्रीतम

(३) इण मांखी रे अणख मरूँगी
मांखी मोकण राखी हो साहिबा इण मांखी रे साल मरूंगी।
इण नैनन में एक तिल प्रीत लगी तिल मांह।
जो तिल तिल देखूं नहीं तो तिल जीवत नांह।
(जिनहर्ष कृत उपमिति भव प्रपंचा रास ढाल ६३, सं० १७४५)

(४) ऐसा पंथ खोजो रे ब्रह्मज्ञानी पाचू पडवों होरे ब्रह्मज्ञानी।
कौन हो तुम कहां ते आये जाओगे किहि देसा।
अवधू धरि अमर बेलि बूझूं एक संदेसा। ऐसा०—रागकेदारो
(१९वीं शताब्दी लिखित पत्र से)

(५) ऐसी दोपहरी में कहां चली मृगा नेणी ?
पाय उभाणी हे कमल ज्यूं कमलाणी—ऐसी०
गई थी हूँ फूल लेण, भूली सखी संग सैन,
प्यासी कूं पिलाय पाणी।—ऐसी० ॥१॥
डाहणो जिहणो पाणी पिलाय देहू डगर बताय देहू।
न कुण बैठो प्यारी कुंज में आई के तूं ऐसी० ॥२॥

(६) जैसा रंग कुसुंब का रे तैसा इहूँ संसार।
सब जगि बल देखिके भारी अमाणी हम भी चालणहार।
हरि रंग माणिस तेरा भया पराणा बोल

(७) जैसी प्रीति चकोर की मया ही माने
ऐसी ओर निवाहिये ओ वा की ओ जाने
साजना ! मेंड़ा मन धरम सूं लिगा सलूने साजना।

(८) छज्जे बैठी केसरी रे मेरा बल पतियार
बिलंब तम कूं बुझि गया मेरे नैन रहे झरलाय।
दलपतियार—मेंडा
(उपरोक्त दोनों देशियों में सिन्धी का मेंडा शब्द आता है इसलिए ये पंजाब मे प्रचलित होंगी।)

(९) जो तुम चलोगे तो प्राण तजूंगी रोय रोय अंखिया लाल करूँगी
चलत न देऊ, माइ अपने पिय कूं—राग सोरठी

(१०) डूंगर डूंगर हूँ भूवि मन मोहना लाल।
क्यूं ही न पायो मैं पीय हो मन मोहना लाल।

(११) दिल्ली तणे दरवाजे गोसे चढ़ी कबाण'
खेंचण वालो को नहीं किस पर करूँ गुमान।
या मै नाजर छां जी या मैं बालक छां जी।
हलवे हलवे माण गुमानी पीया म्हे नाजार छांजी।

(१२) मेरे पीउ की खबर को ल्यावै मेरे बंभन।
द्यूंगी रे करको कंकना—मेरे०।

(१३) हाथ का दूंगी मूंदड़ो गल को नवसर हार रे लहरियो मेरे भीजेगो
भीजे छैल री बांह रे लहरियो मेरे भीजेगो।
पाथर फोड़ों तेरो मूँधड़ो नदिय वहाऊं तेरो भूर (चूर) लह०
साहिब सूँ प्रीति न तोड़ूं जोरू, सो सो वार रे। लह ०
मैं गुणवंती गोरड़ी छैल छबीलो जार रे
(जिन हर्ष कृत महाबल मलया सुंदरि रास सं० १७५१)

उपरोक्त देशियों में अधिकाश अब विस्मृत हो चुकी हैं। इन देशियों वाले लोक-गीत दिल्ली के आस-पास के हिन्दी प्रदेश में उस समय काफी प्रसिद्ध होंगे। राजस्थान में भी उनका प्रचार रहा होगा, इसीलिए उनकी तर्ज में जैन कवियों ने अपने रासों की ढालें बनाईं।

जैसा कि पहले लिखा गया है, श्रीकृष्ण वृन्दावन आदि के तो अनेकों लोक-गीत व भजन प्रसिद्ध रहे हैं और उनकी तर्ज में जैन, कवियों ने बहुत सी ढालें रची है। ऐसे शताधिक हिन्दी लोक-गीतों की सूची भी देशाई जी की देशियों की अनुक्रमणिका में प्राप्त है। लेख विस्तार भय से इस लेख में उन लोक-गीतों के नाम नहीं दिये गये हैं। अन्य स्वतन्त्र लेख में उन्हें फिर कभी प्रकाशित किया जायगा।

ब्रजभाषा के लिङ्ग-वचनीय रूपग्राम

डॉ० अम्बाप्रसाद 'सुमन'

§१—भाषा का अध्ययन वाक्यों के माध्यम से किया जाता है। वाक्य का विश्लेषण करते-करते ही हम पद, शब्द, अक्षर, ध्वनि तथा ध्वनिग्राम तक पहुँचते हैं। पदों के विश्लेषणात्मक अध्ययन के मार्ग में ही रूपग्रामों का भी अध्ययन हो जाता है। पाणिनि की भाषा में बहुत कुछ जिसे प्रातिपदिक या धातु कहते हैं, उसे ही आज का भाषाशास्त्री मूल रूपग्राम कहता है। रूपग्राम ध्वनिग्राम की तरह भाषा की निरर्थक इकाई नहीं है। वह एक अथवा अनेक ध्वनिग्रामों की सार्थक इकाई है। रूपग्राम में अपनी निजी आन्तरिक अर्थद्योतकता नहीं होती। वस्तुतः उसकी अर्थद्योतकता सन्दर्भ पर निर्भर है। संस्कृत में 'महत्' प्रातिपदिक है। वर्तमान भाषाशास्त्र के आधार पर हम इसे विशेषणसूचक मूल रूपग्राम भी कह सकते हैं। संस्कृत के 'महत्' से यह पता नहीं चलता कि यह पुरुष जाति का सूचक है, अथवा स्त्री जाति का अथवा नपुंसक जाति को प्रकट करता है। किन्तु जब इसमें प्रत्ययों का प्रयोग होता है तब क्रमशः **महान्, महती** और **महत्** पद बनकर पुरुष, स्त्री और नपुसक लिंग का बोध कराते हैं। ठीक इसी प्रकार ब्रजभाषा में 'बड़्' रूपग्राम (रूपमात्र) अपना पूर्ण अर्थ तभी प्रकट करता है जब उसमें [—औ] तथा [—ई] नाम के लिंग सूचक रूपग्राम (रूपमात्र) जोड़ दिये जाते हैं, उदाहरणार्थ—

(१) **बड़ौ** छोरा आयौ। [बड़् + —औ] —पुंलिङ्ग।

(२) **बड़ी** छोरी आई। [बड़् + —ई] —स्त्रीलिङ्ग।

§२—मूल रूपग्राम ही प्रत्यय और परसर्गों के योग से 'पद' का रूप ग्रहण करता है। प्रत्यय और परसर्ग से मूल रूपग्राम का अर्थ प्रकाशित अवश्य होता है, किन्तु मूलतः भी मूल रूपग्राम मे अर्थ का अस्तित्व अवश्य रहता है। एक प्रकार से मूल रूपग्राम 'शब्द' का ही पर्यायवाची है। शब्द अर्थ से समन्वित होता ही है। वाक्यपदीयकार श्री भर्तृहरि ने शब्द और अर्थ को एक ही आत्मा के दो भेदों के रूप में माना है—

"एकस्यैवात्मानो भेदौ शब्दार्थावपृथक् स्थितौ" — वाक्यपदीय' २।३१

महाकवि कालिदास और महात्मा तुलसीदास भी वही बात कह रहे हैं जो श्री भर्तृहरि ने कही है—

"वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थ प्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वती परमेश्वरौ॥" — रघुवंश १।१

\+ \+ \+

"गिरा अरथ जल-बीचि सम,
कहिअत भिन्न न भिन्न।

§३—वेदान्त दर्शन का जो ब्रह्म है योगदर्शन का जो ईश्वर है सांख्य के लिए जो पुरुष है वैशेषिक दर्शन जिसे विशेष कहता है न्याय की दृष्टि में जो शब्द है बौद्ध दर्शन जिसे ज्ञान जैन दर्शन जिसे पुद्गल, चार्वाक् जिसे भूत, आधुनिक वैज्ञानिक जिसे प्रकृति कहते है और स्फोटवादी जिसे स्फोट कहते हैं उसे ही वर्तमान काल का भाषाविज्ञानी मूल रूपग्राम मानता है। इसी का बीज-रूपांश परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी वाणी के नाम से विख्यात है। इसी में प्रत्यय, परसर्ग आदि अपना योग देकर तथा वक्ता दे कर, नेत्र आदि का संकेत लेकर अपने विचार स्पष्ट किया करते हैं। पतंजलि ने महाभाष्य में कहा भी है—

"बह्वो अर्था हि गम्यन्ते अक्षिनिकोचैः पाणिविहारैश्च"

—पतंजलि, महाभाष्य २।१।१

§४—ब्रजभाषा के 'ग्' 'आ' 'इ' आदि ध्वनिग्राम हैं। इनका कोई अर्थ नहीं। किन्तु इनका आवर्तन समन्वयात्मक रूप में 'गाइ'[1] ध्वनि उत्पन्न करता है जो सार्थक है। यही सार्थ आवर्तन रूपग्राम है।

§५—मूल रूपग्राम प्रमुख्यतः पाँच वर्गों में वर्गीकृत किये जा सकते हैं—(१) संज्ञा रूपग्राम, (२) सर्वनाम रूपग्राम, (३) विशेषण रूपग्राम, (४) क्रियारूप ग्राम, (५) अव्यय रूपग्राम।

§६—सहयोगी रूपग्रामों को सम्बन्धतत्वीय रूपग्राम भी कह सकते हैं। इनके अन्तर्गत ही लिंगसूचक और वचनसूचक रूपग्राम आते हैं।

§७—ब्रजभाषा के कुछ पुंलिंग पद (संज्ञा)

व्यंजनान्त पद—चाबुक्, अद्रख, साग्, औग्, भाङ्।

अकारान्त—लट्ठ, घीअ, पीअ (=पीव, कच्चलोहू)।

आकारान्त—छोरा, फोरा, कौड़ा, चाचा, नाना।

इकारान्त—सेठि, मेठि।

ईकारान्त—हाती, धोबी, मोती, माली।

उकारान्त—घीउ, पीउ, ज्वाबु, तेलु, मेलु, सूपु।

ऊकारान्त—आलू, चक्कू, डाँकू, बक्कू।

एकारान्त—दुबे, पाँड़े।

ऐकारान्त—×

ओकारान्त—×

औकारान्त—औझपौ, नारौ, चौबौ, थानौ, पामरौ, [ये विकारी (तिर्यक्) अवस्था में एकारान्त हो जाते हैं]।

---

१. ब्रजभाषा में 'गौ' के लिए गाइ, गाय, गइया, गइआ, गगय्या आदि प्रचलित हैं। लाठी के लिए लठिया और धोती के लिए धटिया शब्द अधिक प्रचलित हैं

§ ८—

पद		ध्वनिग्राम	संज्ञा मूल रूपग्राम	पुंलिंगीय रूपग्राम	
१. चाबुक्	=	।च् आ ब उ क्।	(चाबुक्)	(—०)	शून्य प्रत्यय
२. अद्‌रख्	=	।अ द् र् अ ख्।	(अद्‌रख्—)	(—०)	शून्य प्रत्यय
३. साग्	=	।स् आ ग्।	(साग्—)	(—०)	शून्य प्रत्यय
४. आँग्	=	।आँ ग्।	(—आँग्	(—०)	शून्य प्रत्यय
५. भाड़	=	।भ् आ ड़।	(भाड़—)	(—०)	शून्य प्रत्यय
५. (क)लट्‌ठ	=	।ल् अ ट् ठ् अ।	(लट्‌ठ—)	(—अ)	अ प्रत्यय
लट्‌ठु		।ल् अ ट् ठ् उ।	(——)	(—उ)	उ प्रत्यय
६. छोरा	=	।छ् ओ र् आ।	(छोर्—)	(—आ)	आ प्रत्यय
७. फोरा	=	।फ् ओ र् आ।	(फोर्—)	(—आ)	आ प्रत्यय
८. कौड़ा	=	।क् औ ड़् आ।	(कौड़्—)	(—आ)	आ प्रत्यय
९. चाचा	=	।च् आ च् आ।	(चाच्—)	(—आ)	आ प्रत्यय
१०. नाना	=	।न् आ न् आ।	(नान्—)	(—आ)	आ प्रत्यय
११. सेठि	=	।स् ए ठ् इ।	(सेठ्—)	(—इ)	इ प्रत्यय
१२. मेठि	=	।म् ए ठ् इ।	(मेठ्—)	(—इ)	इ प्रत्यय
१३. हाती	=	।ह् आ त् ई।	(हात्—)	(—ई)	ई प्रत्यय
१४. धोबी	=	।ध् ओ ब् ई।	(धोब्—)	(—ई)	ई प्रत्यय
१५. मोती	=	।म् ओ त् ई।	(मोत्—)	(—ई)	ई प्रत्यय
१६. माली	=	।म् आ ल् ई।	(माल्—)	(—ई)	ई प्रत्यय
१७. घीउ }	=	।घ् ई उ।	(घी—)	(—उ)	उ प्रत्यय
घीअ }			(घी—)	(—अ)	अ प्रत्यय
१८. पीउ }	=	।प् ई उ।	(पी—)	(—उ)	उ प्रत्यय
पीअ }			(पी—)	(—अ)	अ प्रत्यय
१९. ज्वाबु	=	।ज् व् आ ब् उ।	(ज्वाब्—)	(—उ)	उ प्रत्यय
२०. तेलु	=	।त् ए ल् उ।	(तेल्—)	(—उ)	उ प्रत्यय
२१. मेलु	=	।म् ए ल् उ।	(मेल्—)	(—उ)	उ प्रत्यय
२२. सूपु }	=	।स् ऊ प् उ।	(सूप्—)	(—उ)	उ प्रत्यय
सूप् }					
२३. आलू	=	।आ ल् ऊ।	(आल्—)	(—ऊ)	ऊ प्रत्यय
२४. चक्कू	=	।च् अ क् क् ऊ।	(चक्क्—)	(—ऊ)	ऊ प्रत्यय
२५. डाँकू	=	।ड् आँ क् ऊ।	(डाँक्—)	(—ऊ)	ऊ प्रत्यय
२६. बक्कू	=	।ब् अ क् क् ऊ।	(बक्क्—)	(—ऊ)	ऊ प्रत्यय
२७ दुबे	=	।द् उ ब् ए।	(दुब्—)	(—ए)	ए प्रत्यय
२८ पाँड		प आँ ड ए	पाँड)	—ए	ए प्रत्यय

२९. औझपौ		। औ झ अ प औ	औझप)	—औ)	औ प्रत्यय
३०. गारौ	=	। ग् आ र् औ ।	(गार्—)	(—औ)	औ प्रत्यय
३१. चौबौ	=	। च् औ ब् औ ।	(चौब्—)	(—औ)	औ प्रत्यय
३२. थानौ	=	। थ् आ न् औ ।	(थान्—)	(—औ)	औ प्रत्यय
३३. पामरौ	=	। प् आ म् अ र् औ ।	(पामर्—)	(—औ)	औ प्रत्यय

§९ पुंलिंग पद	(एक व०)—	स्त्रीलिंग पद	(एक व०)—	अर्थ
१. लट्ठु / लट्ठ	विकारी (तिर्यक्) / अविकारी (ऋजु)	लठिया-वि०	अविकारी,	(=लाठी)
२. छोरा- वि०,	अविकारी	छोरी- वि०	अविकारी	(=लड़की)
३. सेठि- वि०,	अविकारी	सेठानी- वि०	अविकारी	(=एक पदवी)
४. हाती- वि०,	अविकारी	हतिनी- वि०,	अविकारी	(=एक पशु)
५. धोबी- वि०,	अविकारी	धोबिन्- वि०,	अविकारी	(=एक जाति)
६. माली- वि०,	अविकारी	मालिन्- वि०,	अविकारी	(=एक जाति)
७. सूपु / सूप्	अविकारी / विकारी[1]	सूपनी- वि०,	अविकारी	(=अनाज साफ़ करने की एक वस्तु)
८. पाँड़े	अविकारी	पँड़िआइन-वि०	अविकारी	(=एक प्रकार की अल्ल ब्राह्मणों में)
९. चौबौ / चौबे	अविकारी (ऋजु) / विकारी (तिर्यक्)	चौबिन्- वि०,	अविकारी	(ब्राह्मणों की चतुर्वेदी शाखा)
१०. पामरौ / पामरे	अविकारी / विकारी	पामरी वि०, पमरिया	अविकारी,	(खोदने का एक औज़ार अर्थात् फावड़ा)

ऋजु विभक्ति (१) मेरौ लट्ठ अच्छौ कामु करत्वै।
तिर्यक् विभक्ति (२) मेरे लट्ठ नैं अच्छौ कामु कर्यौ। } कर्ताकारकीय रूप

ऋजु रूप (१) तू जोर ते लट्ठु मारि
तिर्यक् रूप (२) तू जोर ते लट्ठ ऐं मारि } कर्मकारकीय रूप

§१०—

संज्ञा रूपग्राम	कारक	परसर्ग	पद	पर प्रत्यय
(लट्ठ—)	कर्ता	+	लट्ठु	(—उ)
(लट्ठ—)	कर्ता	नैं	लट्ठ नैं	(—अ)

---

१ (१) तुम सूपु लेउ (२) तुम 'सूपऐं लेउ 'सूप' विकारी है।

(लट्‌ठ्—)	कर्म	+	लट्‌ठु	(—उ)
(लट्‌ठ्—)	कर्म	ऐं	लट्‌ठ ऐं	(—अ)

§११—उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि ब्रजभाषा में पुलिंग एकवचन का कर्तरि कर्मणि रूप वाला पद परसर्ग रहित होने पर उकारान्त होता है। परसर्गों के साथ तो ये अकारान्त हो जाते है। परसर्गों की अनुपस्थिति तथा उपस्थिति ही इन्हे अविकारी तथा विकारी बना देती है।

ऋजुरूप (१) **चौबो** किताब् पढ़तवैं। } कर्ताकारकीय रूप
तिर्यक्‌रूप (२) **चौबे नैं** किताब् पढ़ी।

ऋजुरूप (१) मैं नैं एकु **चौबौ** बुलायौ। } कर्मकारकीय रूप
तिर्यक्‌रूप (२) मैंने एक् **चौबे कूं** बुलायौ।

संज्ञा रूपग्राम[1]	कारक	परसर्ग		पद	पर प्रत्यय
(चौब्—)	कर्ता	+	फ़ारसी में पूर्वसर्ग अधिक है। ब्रजभाषा में बिना धोती' आदि प्रयोग फ़ारसी से प्रभावित है।	चौबौ	(—औ)
(चौब्—)	कर्ता	नैं		चौबे नैं	(—ए)
(चौब्—)	कर्म	+		चौबौ	(—औ)
(चौब्—)	कर्म	कूं		चौबे कूं	(—ए)

इस विश्लेषण से यह सिद्धान्त निश्चित हुआ कि पुलिंग एकवचनीय कर्तरि-कर्मणि पद जो परसर्गरहित होने पर औकारान्त होता है, वह परसर्गों के योग में एकारान्त हो जाता है जैसे **'चौबौ'** से **'चौबे'** अर्थात् तिर्यक् रूप **चौबे**।

§१२. सारांश यह है कि उकारान्तता और औकारान्तता एक-सी परिस्थितियों में देखने को मिलती है। ब्रजभाषा के पदों में यह उकारान्तता और औकारान्तता कहाँ से आई? संस्कृत का प्रथमा विभक्ति का प्रत्यय 'मु' (अः) ही प्राकृत में **ओ** या उ में बदला है। संस्कृत का 'देवः' पद अपभ्रंश में '**देवो**' या '**देवु**' बनता है। अपभ्रंश से ही ब्रज को औकारान्तता और उकारान्तता प्राप्त हुई है। खड़ी बोली के प्रभाव से ब्रज के कुछ पुलिंग पद आकारान्त भी हो गये हैं जैसे **छोरा, घोड़ा** गधा आदि। किन्तु कर्त्ता-कर्म में एकवचनीय **मेलु, खेलु, थानौ, पामरौ** आदि तो उकारान्त और औकारान्त ही हैं जो पालि, प्राकृत और अपभ्रंश की परम्परा में ही हैं।

१३. बहुवचनीय प्रयोग—

(१) मेरे **लट्‌ठ** अच्छौ कॉमु करत ऐं। } कर्ताकारक में प्रयोग (**लट्‌ठ**)
तिर्यक्‌रूप (२) मेरे **लट्‌ठन् नैं** अच्छौ कॉमु कर्‌यौ।

(१) मैं मौहन् ते दस् **लड्डु** लायो। } कर्मकारक में प्रयोग (**लड्डु**)
तिर्यक्‌रूप (२) मैं मौहन् ते दस् **लड्डुन् नैं** लायो।

(१) दस् **चौबे** किताब् पढ़तऐं। } कर्ताकारक में प्रयोग (**चौबे**)
तिर्यक्‌रूप (२) दस **चौबेन् नैं** किताब पढ़ी।

---

१. उत्तमपुरुषीय सर्वनाम के जितने पद-रूप हो सकते हैं। उनमें वैज्ञानिक आधार पर मूल) '<u>मु</u>' ठहरता है

(१) मैं दस चौबे बुलावत्
तिर्यकरूप (२) मैंने दस चौबेन कू बुलाया } कर्मकारक में प्रयोग (चौबे)

उपर्युक्त पद बहुवचन में 'न' सहित विकारी हैं। इनकी उकारान्तता या औकारान्तता बहुवचन में समाप्त हो जाती है।

ब्रजभाषा		सा० खड़ीबोली हिन्दी
(१) लट्ठ	(बहुवचन)—	(१) लट्ठ (बहु० व०)
(२) लट्ठन् नें	(बहुवचन)—	(२) लट्ठों ने (बहु० व०) २. लट्ठों को (बहु०व०)
(१) चौबे	(बहुवचन)—	(१) चौबे (बहु० व०)
(२) चौबेन् नें	(बहुवचन)—[1]	(२) चौबे ने (बहु० व०)[1]

१४. ब्रजभाषा के कुछ स्त्रीलिंग पद (संज्ञा)

पद		ध्वनिग्राम	संज्ञा मूल रूपग्राम	स्त्रीलिंगीय रूपग्राम	
१. खाट्	=	।ख् आ ट्।	(खाट्—)	(—०)	शून्य प्रत्यय
२. गप्प	=	।ग् अ प् प् अ।	(गप्प—)	(—अ)	अ प्रत्यय
३. चिरइआ	=	।च् इ र् अ इ आ।	(चिर्—)	(—अइआ)	अइआ प्रत्यय
चिरइया	=	।च् इ र् अ य्[2] आ।	(चिर्—)	(—अइया)	अइया प्रत्यय
४. ब्यारि	=	।ब् य् आ र् इ।	(ब्यार्—)	(—इ)	इ प्रत्यय
५. छोरी	=	।छ् ओ र् ई।	(छोर्—)	(—ई)	ई प्रत्यय
६. प्याजु	=	।प् य् आ ज् उ।	(प्याज्—)	(—उ)	उ प्रत्यय
७. बहू	=	।ब् अ ह् ऊ।	(बह्—)	(—ऊ)	ऊ प्रत्यय
८. परै	=	।प् अ र् ऐ।	(पर्—)	(—ऐ)	ऐ प्रत्यय
९. लबड़ो	=	।ल् अ ब् ड् ओ।	(लबड़्—)	(—ओ)	ओ प्रत्यय
१०. लौ[3]	=	।ल् औ।	(ल्—)	(—औ)	औ प्रत्यय

१५. ब्रजभाषा के बहुवचनीय रूपग्राम—

पुंलिंग

एकवचन	बहुवचन	मूल रूपग्राम तथा बहुवचनीय रूपग्राम
१. मोर्	मोर्	(मोर्—०) शून्य प्रत्यय
	(तिर्यक्) मोरन्	(मोर्—अन्) अन् प्रत्यय
२. लट्ठ, लट्ठु	लट्ठ	(लट्ठ—अ) अ प्रत्यय
	(तिर्यक्) लट्ठन्	(लट्ठ्—अन्) अन् प्रत्यय

---

१. ब्रजभाषा में 'चौबेन् नें' का प्रयोग 'चौबों को' के अर्थ में भी होता है; जैसे "तुम इन सब चौबेनें दछिना देउ।" चौबेन्+एँ=चौबेनैं, अथवा चौबेन्+नें=चौबेनें।

२. 'य' यहाँ श्रुति या राग है।

३ अ० लौ० य>ब्र० लौ प्रेम की लगन—दे० उर्दू-हिन्दी कोष, संपादक, मशाहूर।

३. छोरा	छोरा (तिर्यक्) छोरान्, छोरन्	(छोर्—आ) आ प्रत्यय (छोर्—अन्) अन् प्रत्यय
४. सेठि	सेठि (तिर्यक्) सेठिन्	(सेठ्—इ) इ प्रत्यय (सेठ्—इन्) इन् प्रत्यय
५. धोबी	धोबी (तिर्यक्) धोबीन्	(धोब्—ई) ई प्रत्यय (धोब्—ईन्) ईन् प्रत्यय
६. सूपु	सूपु (तिर्यक्) सूपन्	(सूप्—०) शून्य प्रत्यय (सूप्—अन्) अन् प्रत्यय
७. डाँकू	डाँकू (तिर्यक्) डाँकुन् डाँकून्	(डाँकू—ऊ) ऊ प्रत्यय (डाँक्—उन्) ऊन् प्रत्यय —ऊन्)
८. पाँड़े	पाँड़े–पाँड़ैं (तिर्यक्) पाँड़ेन्, पाँड़ैन्	(पाँड़्—ए) ए प्रत्यय (पाँड़्—एन्) एन् प्रत्यय
९. पामरी	पामरे (तिर्यक्) पामरेन्, पामरेन्)	(पामर्—ए) ए प्रत्यय (पामर्—एन्) एन् प्रत्यय

उपर्युक्त पदों की बहुवचनीय तालिका पर दृष्टिपात करने के उपरान्त स्पष्ट हो जाता है कि ब्रजभाषा के बहुवचन में प्रायः सभी पुंलिंग संज्ञाएँ 'न्' सहित विकारी हैं।

§१६.—

स्त्रीलिंग

एकवचन	बहुवचन	मूलरूपग्राम	तथा बहुवचनीय रूपग्राम
१. खाट्	खाट् (तिर्यक्) खाटन्	(खाट्—०) (खाट्—अन्)	शून्य प्रत्यय अन् प्रत्यय
२. गप्प	गप्प (तिर्यक्) गप्पन्	(गप्प्—अ) (गप्प्—अन्)	अ प्रत्यय अन् प्रत्यय
२. (क) चिरइआ	चिरइआँ (तिर्यक्) चिरइअन्)	(चिरइआँ—अन्भइ)	आँ, अन् प्रत्यय
३. ब्यारि	ब्यारि (तिर्यक्) ब्यारिन्	(ब्यार्—इ) (ब्यार्—इन्)	इ प्रत्यय इन् प्रत्यय
४. प्याजु	प्याजु (तिर्यक्) प्याजन्	(प्याज्—०) (प्याज्—अन्)	शून्य प्रत्यय
५. बहू	बहू (तिर्यक्) बहून्	(बह्—ऊ) (बह्—ऊन्)	ऊ प्रत्यय ऊन् प्रत्यय
६. परैं (खेत की हानि विशेष)	परैं (तिर्यक्) परैंन्	(पर्—ऐं) (पर्—ऐन्)	ऐ प्रत्यय ऐन् प्रत्यय
७. लबड़ो (असत्य भाषिणी)	लबड़ो (तिर्यक् लबड़ोन्	(लबड़्—ओ) (लबड़—ओन्)	ओ प्रत्यय ओन प्रत्यय

८. लौ (=लगन)	लौ	(ल्+औ)	औ प्रत्यय
	(तिर्यक्) लौन्	(ल्+औन्)	औन् प्रत्यय

§१७—उपर्युक्त स्त्रीलिंग तालिका से स्पष्ट है कि ब्रजभाषा की स्त्रीलिंग संज्ञाएँ बहुवचन में अन् और न् सहित विकारी होती हैं।

पुंलिंग	रूपग्राम मूल—पुं०	स्त्रीलिंग	रूपग्राम मूल—स्त्री०
१. मोर्	= (मोर्—०)	१. मोर्नी	= (मोर्—नी)
२. छोरा	= (छोर्—आ)	२. छोरी	= (छोर्—ई)
३. चिरौटा	= (चिर्—औटा)	३. चिरइआ	= (चिर्—अइआ)
४. मूसटा	= (मूसट्—आ)	४. मूसटी	= (मूसट्—ई)
		मुसटिया	= (मुसट्—इया)
५. चमार्	= (चम्+आर्—०)	५. चमारि	= (चम्+आर्—इ)
६. चुट्टा	= (चुट्ट—आ)	६. चुटिया	= (चुट्—इया)
७. **तमैंड़ा**	= (तम्+ऐंड़—आ)	७. **तमैंड़ी**	= (तम्+ऐंड़—ई)
८. **बिटौरा**	= (बिट्+और्—आ)	८. **बिटौरी**	= (बिट्+और्—ई)
९. **कुटैरा**	= (कुट्+ऐर्+आ)	९. **कुटैरी**	= (कुट्+ऐर्—ई)
१०. फोरा	= (फोर्—आ)	१०. फुरिया	= (फर्—इया)

§१८—हिन्दी के कुछ प्रत्यय मूलतः शब्द हैं। उपर्युक्त **तमैंड़ा, बिटौरा** और **कुटैरा** शब्दों में जो प्रत्यय हैं, वे संस्कृत-काल में पूर्ण सार्थक शब्द ही थे। सं० **ताम्रभाण्ड**>ब्रज० **तमैंड़ा**। सं० विष्ठाकूट ;सं० विट्कूट>ब्रज० बिटौरा। सं० कूटगृह>ब्रज० कुटैरा। दूसरे शब्दों में हम यों कह सकते हैं कि संस्कृत-काल के **भाण्ड**, **कूट**, और **गृह** शब्द ब्रजभाषा में आकर क्रमशः **ऐंड़**, **और** और **ऐर्** नामक रूपमात्र अर्थात् रूपग्रामों (प्रत्ययों) में बदल गये है। इनके स्त्रीलिंग रूप लघुता और कोमलता का अर्थ देने लगे हैं। 'तमैंड़ी' स्त्रीलिंग अवश्य है किन्तु उसमें लघुता का भाव ही प्रमुख है। अर्थात् **तमैंड़ा** (=ताँबे का एक बड़ा पात्र) बड़ा होता है और **तमैंड़ी** छोटी होती है। निर्जीव पदार्थों में लिंग सूचक [—ई] रूपग्राम का अर्थ लघुताद्योतक है। और [—आ; —औ] का विशाल द्योतक।

प्राचीन भारतीय ज्योतिष तथा गणित भूगोल*

श्री मायाप्रसाद त्रिपाठी

वैदिक वाङ्मय

ऋग्वेद से ज्योतिष भूगोल के संबंध में बहुत-सी बातें ज्ञात होती हैं। ऋग्वेद से पहले खगोल-संबंधी वेध का कार्य आरंभ हो चुका था और लोग ज्योतिष तथा पृथ्वी की भौतिक बातों के पारस्परिक संबंधों के विषय में छानबीन करने लगे थे। प्रो० एच्० एच्० विलसन का कथन है,[1] "जैसा हम पहले देख चुके हैं, आंगिरस अत्यन्त प्राचीन ज्योतिर्विद प्रतीत होते हैं। नक्षत्रों का इन्होंने ही पता लगाया था।" ऋग्वैदिक आर्यों को यह विदित था कि देश और काल की भावना का उद्भव सूर्यकी सत्ता से होता है।[2] वे यह भी निश्चित रूप से जानते थे कि सूर्य केवल एक है।[3] ऋचा ३.३१.३७ द्योतित करती है कि दिन-रात होने का कारण सूर्य है। १.१६४.२ में वर्ष के सात अंग कहे गए हैं—अयन[4], ऋतु, मास, पक्ष, दिन, रात तथा घटे।[5] १.१५५.६ में एक शब्द "चौरानबे" आया है। प्रो० विलसन इसका अर्थ करते हुए टिप्पणी में कहते हैं, "यहाँ विष्णु को काल का रूप माना गया है जिसके चौरानबे अंग है—ये कालचक्र के अवयव हैं—वर्ष, दो अयन, पच ऋतुएँ, बारहमास, चौबीस अर्धमास, तीस दिन, आठ याम तथा बारह राशियाँ।" १.१६४ ११ के सायणभाष्य से भी यह ज्ञात होता है कि ऋग्वैदिककालीन लोगों को बारह राशियों का ज्ञान था।[6] एम्० मालियों ने सायण के कथन की पुष्टि की है। १०.५६.५ के सायणभाष्य में एक वाक्य आता है, "ग्रहों, नक्षत्रों आदि का विभाग करके.. ..।" इससे भी ऋग्वैदिक आर्यों का ज्योतिष-ज्ञान परिलक्षित होता है। मंत्र १.२५.८ से विदित होता है कि सौर और चान्द्र वर्षों का साथ-साथ व्यवहार होता था। यह ऋचा, २–४०.३ तथा १.१६४.१५ यह दिखाती है कि मलमास से सभी लोग परिचित थे। ७.१०३.९ के आधार पर जैकोबी महोदय कहते है कि

---

* लेखक के अनुसंधान प्रबंध "Development of Geographic knowledge in India" के द्वितीय अध्याय से।

१. वे०, जिल्द ६, पृ० ३५४ (१९२७ का संस्करण)

२. १.९५.३

३. बालाखिल्य ८.१०.२

४. ६.३२.५ में सूर्य के दक्षिणायन का उल्लेख है।

५. विल्सन की टिप्पणियाँ, जिल्द २, पृ० २६८

६. M. Mallien—Memers de l' Academic des inscriptions, premiere serie, vol 3

वदिक काल मे वष वर्षा ऋतु से आरम्भ होता था कुछ लोगो के मतानुसार हेमन्त[1] से भी वर्षारंभ माना जाता था परन्तु यह मत समीचीन नही प्रतीत होता मंत्र १० ८५ १३ स यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ऋग्वैदिक आर्य चन्द्रमा की गति पर भी ध्यान देने लगे थे। १.८४ १५ यह निःसंदिग्ध रूप से सिद्ध करता है कि वे जानते थे कि चन्द्रमा स्वयं प्रकाशित नहीं है, अपितु वह सूर्य के प्रकाश से ही प्रकाशित होता है।

१.२४.१० में सप्तर्षि मंडल का उल्लेख आया है। ऋग्वेद में चौदह भुवनों[2], छः[3] और सात लोकों का[4] भी परिनिर्देश आया है।

ऋग्वेदकालीन भारतीयों को ग्रहणों का निश्चित ज्ञान था।[5] लडविग ने तो यहाँ तक कहा है कि वे ग्रहणों के गणितीय सिद्धान्त को भी जानते थे, किन्तु ह्विटनी ने उनके इस कथन को काटने की चेष्टा की है।[6]

१०.८५.१ तथा १०.१४९.१ में आकाशीय पिंडों के पारस्परिक आकर्षण तथा गुरुत्वाकर्षण की चर्चा आई है। आकाश के संबंध में बहुत-सी बातें कही गई है और उसे निराधार बताया गया है[7] तथा इस बात पर आश्चर्य[8] प्रकट किया गया है कि वह गिर क्यों नही पड़ता।

ऋग्वेद में अब भी बहुसंख्यक ऐसे मंत्र हैं जिनमें ज्योतिष-संबंधी तथ्य सन्निहित हैं। परन्तु अभी तक उनका ठीक अर्थ नहीं लगाया जा सका है—वे अभी तक लोगों की समझ में भलीभाँति नही आए हैं—दृष्टान्तस्वरूप १०.८५.१६। हमें विदित होता है कि वे मिनट तक की काल-गणना करते थे।[9] ये आर्य आकाशीय पिंडों के गोलाकार (sphericity) स्वरूप से भी भलीभाँति परिचित थे।[10]

३ ५५.२० तथा १०.८९ ४ में पृथ्वी को भी गोलाकार बताया गया है। १.३३.८ में निश्चित रूप से पृथ्वी की आकृति गोल बताई गई है और ४.५३.२ में पृथ्वी के क्रम-क्रम से प्रकाशित होने की जो बात कही गई है, वह तभी यथार्थ हो सकती है जब यह स्वीकार कर लिया जाय कि इस मंत्र में पृथ्वी को गोलाकार (spherical) माना गया है। उक्त मंत्र का उक्त प्रकार का अर्थ तभी हो सकता है, जब हम "निवेशयन् प्रसुवन्नक्तुभिर्जगत्" का वैसे ही अर्थ करें जैसे सिद्धान्त शिरोमणि के टीकाकार पं० गिरिजाप्रसाद द्विवेदी ने उसका किया है। इस संबंध में यह स्मरणीय है कि ऊपर "निवेशयन्" का क्रम-क्रम से पहुँचने का जो अर्थ लगाया गया है, वह संस्कृत कोषो के

---

१. ६.१०.७ 　 २. १०.११४.७

३. १.१६४.६ 　 ४. ७.१८.२४

५. ५.४० . ५ से ९ तक। 　 ६. Vedic Index, vol. II, p. 466.

७. २.१५.२ 　 ८. ५.२९.४ तथा ६.१७.७

९. जिल्द २, Introduction, p. XI—Wilson, and X 189.3.

१०. यथा सूर्य का आकार, चन्द्रमा का आकार, तथा अन्य पिंडों का; ऋग्वेद १.१६४. १३ १४ (सूर्यस्य चक्षु) और तत्रैव २७

अनसार भी पूर्णतया समीचीन है[1] कई मत्रा में कहा गया है कि पहले पृथ्वी में वर्तुल गति थी। इसका एक दृष्टान्त मंत्र ५.३०.८ है।[2]

ऋग्वेद की भाँति तैत्तिरीय संहिता[3] भी कहती है कि सूर्य सभी वस्तुओं का प्रधान केन्द्र है। कदाचित् इन ऋचाओ मे सूर्य केन्द्रिक सिद्धान्त (Heliocentric theory)[4] की भावना की ओर संकेत है। अथर्ववेद के मंत्र २०. ३४. २ में पृथ्वी की गति का परिनिर्देश आभासित होता है।

तैत्तिरीय संहिता में[5] भी प्रतीकात्मक ढंग से आकाश में विद्यमान गुरुत्वाकर्षण शक्ति की ओर इंगित किया गया है। उसमें कहा गया है कि अनंत वा अदितिशक्ति "आकाश का आधार, पृथ्वी का आश्रय और इस विश्व की नियामक है।"

उपर्युक्त संहिता कहती है, "..... रात दिन का ही रूप है।"[6] एक दूसरे स्थल पर वह घोषित करती है[7] "...... ."वह सूर्य सभी के अभिमुख उदय होता है; इसीलिए प्रत्येक व्यक्ति सोचता है कि वह 'मेरी ओर उदय हो रहा है।" इससे यह बात निःसंदिग्ध विदित होती है कि वे दिन तथा रात के वास्तविक कारण को जानते थे।

सामवेद में इन्द्र धनुष का उल्लेख आया है।[8] दो स्थलों पर सूर्य की देशान्तर रेखा का परिनिर्देश है।[9] शुक्ल यजुर्वेद की यह पंक्ति ऋग्वेद से भी स्पष्ट शब्दों में सूचित करती है कि पृथ्वी गोलाकार (sphere) है — मातेव पुत्रं पृथिवी पुरीष्यमग्नि स्वे योतावभारुखा।[10]

शतपथब्राह्मण (लगभग २००० ई० पू०) भी निःसंदिग्ध रूप से पृथ्वी के गोलाकार होने की बात का इस प्रकार प्रतिपादन करता है "तस्मोदेष आभ्यां लोकाभ्यां परिगृहीतः परि-मण्डले भवतः परिमण्डलौ हीमौ लोकौ—वे वृत्ताकार वा गोलाकार हैं, क्योंकि ये दोनो लोक गोलाकार हैं।"[11] आगे चलकर यह स्पष्ट कह दिया गया है कि ये दोनों लोक द्यौः तथा पृथ्वी है।[12] द्यौः वा आकाश गोलकाकार (spherical) दिखाई ही पड़ता है, अतएव पृथ्वी के गोलकाकार होने की कल्पना बड़ी सरलता से की जा सकती है।

शतपथ ब्राह्मण एक स्थल पर कहता है, "लोक दिशाओं द्वारा सूर्य से आवद्ध हैं।"[13] इससे दो बातें विदित होती हैं कि वे लोग गुरुत्वाकर्षण शक्ति से परिचित थे और सूर्यकेन्द्रिक सिद्धान्त की भी कुछ भावना थी। ऋग्वेद की[14] अपेक्षा इन पंक्तियों में गुरुत्वाकर्षण शक्ति का अधिक विशद परिनिर्देश है।

---

१. शंकरबालकृष्ण दीक्षित ने भी इस पंक्ति का ऐसा ही अर्थ लगाया है—भारतीय ज्योतिषशास्त्र (हिन्दी अनुवाद) पृ० ३१

२. १.१६४. २ तथा १.१६४.१४ ३. ३.४ ११।

४. शंकर बा० दीक्षित कृत "भारतीय ज्योतिष" का हिन्दी अनुवाद पृ० २८

५. ४.४ १२.५—कीथ पृ० ३५३ ६. ३.३.४१—कीथ।

७. ६.५.४.१—२ ८. ४.४.९। ९. १२.११—तथा १३.५

१०. १२.६१ ११. श०ब्रा० ६.७.१.२६। १२. वही ६.७.३.२।

१३ श० ब्रा० ६ ७ १ १७ भाग ३ पृ० २६९ १४ वे० पूर्व पृष्ठ

ऐतरेय ब्राह्मण भी सिद्ध करता है कि प्राचीन भारतीय पृथ्वी के गोलाकार होने और दिन-रात के वास्तविक कारण से अवगत थे। इस ब्राह्मण के उक्त अनुच्छेद का सायण ने भी इसी प्रकार का अर्थ किया है; कीथ ने उसका अनुवाद इस प्रकार किया है—"(सूर्य) वस्तुतः न कभी उदय होता है और न अस्त। उसकी प्रक्रिया के बारे में लोग सोचते हैं कि 'वह अस्त हो रहा है' परन्तु दिन के अंत में पहुँचकर वह वस्तुतः अपने को लौटा लेता है; इस प्रकार वह इधर रात्रि करता है और उधर दिन। फिर वे उसी प्रकार सोचते हैं कि 'वह प्रातःकाल उदय हो रहा है।' परन्तु बात यह होती है कि रात्रि के अन्त में वह अपने को पुनः लौटा लेता है। वह कभी अस्त नहीं होता। यथार्थतः वह कभी अस्त नहीं होता, जो इस रहस्य को समझता है वह सूर्य से सालोक्य, सारूप्य तथा सायुज्य स्थापित कर लेता है (उसका सूर्य से तादात्म्य होता जाता है)।"[१]

अथर्ववेदीय गोपथ ब्राह्मण भी उपर्युक्त कथन की पुष्टि करते हुए कहता है, 'यह (सूर्य) न कभी अस्त होता है और न कभी उदय। फिर इस सूर्य को जो लोग मानते हैं कि वह पश्चिम में अस्त होता है, (वे वस्तुतः असमीचीन सोचते हैं) क्योंकि तब वह (सूर्य) दिन के अत पर पहुँचकर अपने को लौटा लेता है। वह सूर्य न कभी उदय होता है और न अस्त। फिर उसको जो लोग मानते हैं कि वह पूर्व में उदय होता है, (वे असमीचीन सोचते हैं), क्योंकि तब वह रात्रि के अंत पर पहुँच कर अपने को लौटा लेता है।"[२]

गुरुत्वाकर्षण शक्ति का सबसे सुव्यवस्थित परिनिर्देश इस प्रकार आता है; पृथिव्या-माकाशः प्रतिष्ठितः। आकाशे पृथिवी प्रतिष्ठिता।[३] "आकाश पृथ्वी पर आधृत है और पृथ्वी आकाश पर।" वैदिक वाङमय में गुरुत्वाकर्षण शक्ति का इससे अच्छा उल्लेख अलभ्य है।

गोपथ ब्राह्मण एतादृश-भावनाओं की एक शृंखला-सी व्यक्त करता है, यद्यपि ऐसा करने मे उसकी भाषा कुछ अवैज्ञानिक सी हो गई है। वह कहता है[४] भूमिरप्सु प्रतिष्ठिता, आपो ज्योतिषि प्रतिष्ठिता, ज्योतिर्वायौ प्रतिष्ठितं, वायुराकाशे प्रतिष्ठितः—"पृथ्वी अप् (शून्य) पर आधृत है, अप् (शून्य) आकाशस्थ पिंडों पर; ये पिंड वायु पर; तथा वायु आकाश पर"।

मैत्रायण उपनिषद् उस गुरुत्वाकर्षण शक्ति की चर्चा इस प्रकार करता है—"व्रश्चन वातरज्जूनाम् "(आकाशस्थ पिंडों को उनकी स्थिति में रखने वाली) वायु की रस्सियों का काटना . . . . . ."[५]

वेदाङ्ग ज्योतिष (ऋक् तथा यजुः लगभग १२०० ई० पू०)[६]

यह वस्तुतः एक ज्योतिष ग्रंथ है। परन्तु इससे ज्योतिष भूगोल संबंधी भी बहुत सूचनाएँ उपलब्ध होती हैं। इसके एक संस्करण में ३६ तथा दूसरे में ४४ श्लोक हैं। इसके

---

१. ३.४४।

२. ४. १०। इसकी और उपर्युक्त उद्धरण की तुलना इस अध्याय के पूर्वपृष्ठों से कीजिए।

३. तैत्तिरीय उपनिषद् (लगभग १००० ई० पू०) ३०९।   ४. गो० ब्रा० १.३८

५ I. 4. The Principal Upanishads, S. Radhakrishnan, p. 797.

६ आर०   सम्पादित तथा   सहित

दक्षिणायन तथा उत्तरायण का कुछ विवेचन और काल दिया हुआ है। विषुवों (equinoxes) गणना की रीति बताई गई है। सूर्य और चन्द्र की गतियों का भी कुछ अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। अन्य तारों की गतियों के बारे में भी कुछ बातें दी हुई हैं। अहोरात्र (दिन-रात), चान्द्रमास, वर्ष, युग (पंचवार्षिक), तथा सौर वर्ष की परिभाषा दी हुई है। दिनमान तथा मलमास की गणना की भी विधि बताई गई है।

वर्ष में सबसे बड़ा और सबसे छोटा दिनमान निर्धारित करते हुए श्लोक ८ कहता है— "सूर्य की उत्तरायण गति की अंतरा में दिन एक प्रस्थ जल बढ़ जाता है और रात्रि उतनी ही घट जाती है, दक्षिणायन के एक चक्कर में स्थिति ठीक इसके विपरीत होती है—छः मुहुर्त का अंतर हो जाता है।"

वेदाङ्ग ज्योतिष पर लिखे हुए अपने एक निबन्ध[1] में डा० थीबो भारतीय आर्यों के इस आविष्कार वा मौलिक वैज्ञानिक कार्य के संबंध में कहते हैं, "भारत में ग्रीक विज्ञान का तनिक भी प्रभाव पड़ने के प्रथम ही भारतीयों ने वर्ष में किसी दिन का मान निकालने का अत्यन्त सरल नियम निकाल लिया था और उन्होंने गणना कर ली थी कि वर्ष में सबसे बड़ा दिन १८ मुहूर्त का और सबसे छोटा दिन १२ मुहूर्त का होता है।"

२८ से ३१ तक के श्लोकों से ज्ञात होता है कि वेदाङ्ग ज्योतिषकार सौर तथा नाक्षत्रिक (siderial) वर्ष एवं उसके अंतर से भलीभाँति परिचित था।

महाकाव्यों का काल

रामायण में सौर तथा चान्द्र ग्रहणों का कई बार उल्लेख आया है, किन्तु सर्वत्र यही कहा गया है कि उसके कारण राहु और केतु हैं।[2]

२.४१.१०—११ में सौरमंडल के मंगल, बृहस्पति, बुध, चन्द्र तथा अन्य ग्रहों का परिनिर्देश है। ६.४.४८ से ज्ञात होता है कि शुक्र भी विदित था। इस छंद में ध्रुवतारे का भी नाम है। एक स्थल पर कहा गया है कि राम वा परम पुरुष ही पर्वतवती पृथ्वी का आधार है। यदि इसमें पृथ्वी की आकाश में टिकी रखनेवाली आकर्षण शक्ति के संकेत को ढूँढने की चेष्टा की जाय तो उसे असमीचीन नहीं कहा जा सकता।

डा० ब्रजेन्द्र नाथ सील के अनुसार ४.४३.५४—सतु देशो विसूर्योऽपि तस्य भासा प्रकाशते—मे निःसंदिग्धरूप से सुमेरु प्रभा का उल्लेख है[3]। डा० सील का यह मत पूर्ण साधार और विश्वसनीय प्रतीत होता है।

महाभारत में भी ज्यौतिष भूगोल संबंधी परंपरागत रूप से विदित बहुसंख्यक बातों का

---

१. Vedanga Jyotisa by Dr. G. Thibeant, J. R. A. S. Bengal, vol. 46, 1877, p. 421.

२. १.५५.९; २.१२.६३; ३.६६.१०; ६.४.४२ तथा अन्य।

३. **और दे० रामायण ४ ४३ ३५—३६ तथा** Positive sciences of Hindus by Dr B N Seal.

उल्लेख आया है महाभारतकार को यह विदित था कि ग्रहण वा पूर्णिमा को ही लगते है[१] इस समय तक सतयुग त्रेता द्वापर तथा कलियुग वाली चतुर्युगी भावना पूर्ण जड़ जमा चुकी थी।[२] वेदाङ्ग ज्योतिष की भाँति महाभारत मे भी एक स्थल पर एक युग म पाँच वर्ष बताए गए है।[३] महाभारत में सूर्य, चन्द्र तथा पृथ्वी के विस्तार आदि भी दिए हैं और ग्रहों तारों तथा नक्षत्रो का भी उल्लेख है।[४] इस ग्रंथ के अनुसार ग्रहों की संख्या पाँच वा सात है। डा० गोरखप्रसाद ने यह दिखाने की चेष्टा की है कि तत्कालीन भारतीय ग्रहणों के वास्तविक सिद्धान्त से परिचित थे।[५] उन्हे यह भी विदित था कि आकाशीय पिंड गोलकाकार हैं—परिमण्डलो महाराज स्वर्भानु श्रूयते ग्रहः।[६] (महाराज ! ऐसा सुना जाता है कि स्वर्भानुग्रह गोलकाकार है)। एक नभस्थ पिंड से दूसरे पिंड की उत्पत्ति की पद्धति से भी हरिवंश (महाभारत का पूरक सा अंश) अवगत था।

तस्य मण्डलमध्यात्त निःसृतं सोममण्डलम्।
ससनातनाजो ब्रह्मा सौम्यं सोभत्वमन्वगात्॥

"सूर्य-गोलक से चन्द्र की उत्पत्ति हुई, वह चन्द्र ब्रह्मा का रूप होने के कारण ब्राह्मणो का राजा है।"[७]

पातञ्जलिकृत योगसूत्र के व्यासभाष्य (खीष्टाब्द के लगभग) में भी ज्योतिष भूगोल-सबधी अनेक परंपरागत तथ्य बिखरे पड़े हैं।[८] वेदान्तसूत्र घोषित करता है कि आकाश दोना लोको का आधार है।[९] वैशेषिक सूत्र (६०० वा ७०० ई० पू०) में गुरुत्वाकर्षण शक्ति की स्पष्ट शब्दो में चर्चा आई है—गुरुत्वप्रयत्नसंयोगानामुत्क्षेपणम्"[१०] तथा संस्काराभावे गुरुत्वात्पतनम्[११] (कार्य-जनित परिचालन-ऊर्जा के अभाव में गुरुत्वाकर्षण के कारण कोई वस्तु गिरती है)।

पुराणकाल

प्रायः सभी पुराणों में ज्योतिष भूगोल संबंधी कुछ न कुछ बातें पाई जाती हैं। बहुधा पुराणों में इस विषय पर कई अध्याय पाए जाते हैं। विष्णुधर्मोत्तर पुराण के द्वितीय भाग मे सिद्धान्त-विषय पर एक पृथक् खंड है। यह गद्य में लिखा हुआ है और पैतामह सिद्धान्त के नाम से अभिहित किया गया है।

यद्यपि पुराणों के इन खंडों वा अध्यायों में बहुत-सी उपाख्यानात्मक वा काल्पनिक बाते भी दी हुई हैं, किन्तु उनमें वैज्ञानिक तथ्य भी पर्याप्त परिमाण में मिलते हैं।

---

१. सभापर्व ७९.१९, वि० दे० गोरखप्रसाद; भारतीय ज्योतिष का इतिहास, पृ० १६२, भीष्मपर्व २.२३ (म० ना० दत्त का आंग्लानुवाद); भीष्मपर्व ३.३२ (वा म० ना० दत्त ३.२८, पृ० ४)। २. आदि पर्व १.६५ (वा ६६)
३. आदि पर्व १२४.२२। ४. आदि पर्व १.६५। ५. भारतीय ज्योतिष का इतिहास, पृ० ७६। ६. ६.१२.४। ७. ३.१६.२८।
८. कांड ३, सूत्र २६ (व्यासभाष्य) पृ० १८९। ९. १.२.१६।
१० १ १ २९ ११ ५ १ १८

पुराणों में सौर और चान्द्र ग्रहणों की कई बार चर्चा आई है, किन्तु उनके गणितीय सिद्धान्तों की चर्चा कदाचित् ही है। हाँ, विष्णु धर्मोत्तर में ग्रहणों के वास्तविक सिद्धान्त के विवेचन की दिशा में श्लाघनीय और ठीक प्रयास किया गया है। वह कहता है[१] :—

....पर्वकाले च संप्राप्ते चन्द्रार्कौ छादयिष्यसि ॥४२॥
तमोमूर्तिरदृश्यश्च विपरीतं चरिष्यसि।
भूमिच्छाया गतश्चन्द्रं चन्द्रगोऽर्कं च दानवः ॥४३॥

"अमावस्या और पूर्णिमा के दिन दानव सूर्य और चन्द्र को ढक लेगा। काले वर्ण वाला प्रच्छन्न दानव पृथ्वी और चन्द्र की छाया में प्रविष्ट होकर चन्द्र तथा सूर्य के लिए आपद् उत्पन्न करेगा।"

विष्णु पुराण के खंड २, अध्याय ८ में सूर्य-केन्द्रिक सिद्धान्त की बात स्वीकार की गई है।[२] श्री फिटज एडवर्ड हाल[३] उसकी इस व्याख्या से सहमत हैं, किन्तु डा० थीबो ने उसका खंडन करने की चेष्टा की है।[४] कदाचित् भागवतपुराण को भी सूर्य-केन्द्रिक भावना ज्ञात थी।[५]

अनेकानेक पिंड आकाश में किस प्रकार आधारहीन गुरुत्वाकर्षण की शक्ति के सहारे घूम रहे हैं, इस संबंध में एक बहुत सुन्दर उपमा देते हुए शिवपुराण कहता है—जगन्ति नित्यं परितो भ्रमन्ति यत्सन्निधौ चुम्बकलोहवत्।[६] "जिसके चारों ओर नभस्थ पिंड ऐसे घूम रहे हैं जैसे चुम्बक के चारों ओर लौह खंड।"

वायु पुराण का यह श्लोक द्योतित करता है कि उसका रचयिता यह जानता था वा उसका यह अनुमान था कि अन्य आकाशस्थ पिंडों पर भी समुद्र-पर्वत आदि हैं :—

चन्द्र सूर्य प्रभा लोकां ग्रहनक्षत्र-मण्डितः।
नदीभिश्च समुद्रैश्च पर्वतैश्च समावृतः।[७]

कई पुराणों के इतिवृत्तों से ज्ञात होता है कि वे यह जानते थे कि पृथ्वी गोलकाकार है और रातदिन क्यों होते हैं। विभिन्न देशान्तरों के समयों के बारे में भी उन्हें पूर्ण ज्ञान था। इस संबंध में विष्णु पुराण की पंक्तियाँ द्रष्टव्य है—"मैत्रेय! जिस समय एक महाद्वीप में मध्याह्न होता है, उस समय उसके ठीक विपरीत के महाद्वीप में मध्यरात्रि होती है; इस प्रकार

---

१. अध्याय ४२।
२. अंश २, अध्याय २, विशेषतया "——मैत्रेय भगवान् भानुज्योतिषां चक्र-संयुतः।" १०
३. Wilson's Vishnu Purana, vol. II, p. 242.
४. On the Suryaprajanyapti by G. Thibat, with J. R. A. S. Bengal, vol. XLIX, 1880, pp. 107-127.
५. ५.२०.४३ तथा ५.२१.३ और दे०, लिंगपुराण ५४.५।
६. संहिता २, खंड १, अ० १, श्लोक ३।
७ वायुपुराण ९ ११२।

सूय का उदय और अस्त सभी ऋतुआ मे हुआ करता है। पर विभिन्न दिशाओ और स्थानो मे उनमे सदैव अंतर होता है जब किसी स्थान पर सूय दिखाई पड़ता है तो उस स्थान के लिए वह सूर्योदय कहा जाता है और जब वह आखो से ओझल हो जाता है तो उस स्थान के दृष्टिकोण से वह सूर्यास्त होता है। परन्तु वास्तविकता यह है कि सूर्योदय वा सूर्यास्त नाम की कोई बात नही क्योकि सूर्य अंतरिक्ष में सदैव विद्यमान रहता है। सूर्य का केवल दृश्य वा अदृश्य हो जाना ही सूर्योदय वा सूर्यास्त कहलाता है।"[1] ब्रह्मांड पुराण उसीकी और पुष्टि इस प्रकार करता है—[2]

विदूरभावादर्कस्य भूमिलेखावृतस्य च ॥५१॥
लीयन्ते रश्मयो यस्मात्तेन रात्रौ न दृश्यते ॥५२॥

"सूर्य पृथ्वी से बहुत दूर है, वह उसकी ओट में आ जाने के कारण रात्रि में नहीं दिखाई पडता।"

वृहन्नारदीय पुराण के अध्याय ५४ से भी ज्योतिष भूगोल संबंधी बहुत-सी ठीक बातें ज्ञात होती हैं। उसके अनुसार पृथ्वी का अर्धव्यास, व्यास तथा परिधि क्रमश: ८०० योजन, १६०० योजन (८००० मील, क्योंकि १ योजन=५ मील) तथा १६००$\sqrt{१०}$ वा १६००×३ १६२ योजन है, (पृथ्वीकी वास्तविक परिधि १६००×३.१४१ होनी चाहिए।)[3] तदनतर पृथ्वी के किसी अक्षांश की परिधि निकालने का सूत्र दिया हुआ है।[4] गणितीय दृष्टि से ये आकडे पर्याप्त शुद्ध हैं। इस संबंध में एक बात ध्यान देने योग्य है कि उपयुक्त पंक्तियों की शब्दावली सूर्यसिद्धान्त के अध्याय १, श्लोक ५८ तथा ५९ से एकदम मिलती है। इस कारण पृथ्वी की परिधि की गणना में दोनों ही ग्रन्थों में अशुद्धि की मात्रा एक-सी है।

विष्णुधर्मोत्तर पुराण में प्रथम देशान्तर रेखा वा ०° देशान्तर रेखा की चर्चा आई है और उसे लंका तथा उत्तर में मेरु से होकर जानेवाली बताया गया है। शून्य देशान्तर रेखा के पूर्व और पश्चिम काल-गणना की रीति भी बताई गई है।[5]

कुछ पुराणों ने पृथ्वी को कमलाकार कहा है।[6] यदि पुराणकार इस कमल को चपटा न

---

१. अंश २, अध्याय ८, श्लोक ११-१२, १३-१४. इसकी तुलना पूर्व परिनिर्दिष्ट ऐतरेय ब्राह्मण से कीजिए। और दे० वायुपुराण ५०.९४-९७; लिंग ५४. १-११; मत्स्य १२४, २७-३१; इस संबंध में चार नगरों के नाम भी दिए हैं जो ०°, ९०° पू०. ९०° प० तथा १८०° पर स्थित बताए गए हैं।

२. अध्याय २१ (पूर्व भाग)।

३. ...योजनानि शतान्यष्टौ भूकर्णो द्विगुणः स्मृतः ॥८३॥
तद्वर्गतो दशगुणात्पदं भूपरिधिर्भवेत्।
लम्बज्याघ्नस्त्रिजीवाप्तः स्फुटो परिधिः स्वकः ॥८४॥
लम्बज्याघ्नस्वजीवाम :

४. वही, लम्बज्या........स्वकः ॥८४॥ ५. अध्याय १६८

६ ५ १६ ५ वायुपुराण ३४ ४४ ४६, ४१ ८६ वराहपुराण ७५ ४६

मान कर तनिक भी गोलकाकार मानते रहे हों तो यह कहा जा सकता है कि पृथ्वी के आकार के संबंध में इस वर्ग के पुराणकारों का मत बहुत कुछ उस आधुनिकतम अमेरिकन धारणा से मिलता है जिसके अनुसार पृथ्वी नासपाती के आकृति की है।

वाल्मीकि रामायण[1] की भांति विष्णुधर्मोत्तर पुराण में[2] भी सुमेरु प्रभा का निश्चित परिनिर्देश आया है—

इलावृतस्तु प्रभया मेरोर्नित्यं प्रकाशते ।।२६।।
न तत्र भ्राजते सूर्यो न च चन्द्रो न च तारका ।।२७।।

यहाँ इलावृत तथा मेरु का उल्लेख निर्विवाद सिद्ध कर देता है कि इन पंक्तियों में सुमेरु प्रभा की ही चर्चा है क्योंकि उक्त दोनों को ही पुराणों में उत्तरीध्रुव पर स्थित माना गया है।

ज्योतिष-साहित्य

इस कोटि का साहित्य ज्योतिष तथा गणित भूगोल-संबंधी सूचनाओं का सर्वोत्कृष्ट स्रोत है, यद्यपि इन ग्रन्थों में भी उपाख्यानात्मक और भ्रान्तिपूर्ण काल्पनिक बातें पर्याप्त मात्रा में मिलती हैं।

यह निर्विवाद मानना पड़ेगा कि ख्रीष्टाब्द के आरंभ के आस-पास बहुसंख्यक अच्छे और सुव्यवस्थित सिद्धान्तों की रचना हो चुकी थी—ख्रीष्टाब्द के आरंभ के कुछ शती पूर्व कम से कम कुछ सिद्धान्त-ग्रंथ अवश्य बन चुके थे। उस समय तक भारतीय ज्योतिष पर विदेशियों का प्रभाव एकदम न पड़ा था। अतएव उक्त ग्रन्थों में जितनी बातें समाविष्ट हैं, उनका निश्चय ही भारतीयों ने ही आविष्कार और अनुसंधान किया होगा। तृतीय शताब्दी से द्वादश शताब्दी तक भारतीय ज्योतिष अपने चरमोत्कर्ष पर था। उस समय भारत के पश्चिम स्थित अनेकानेक देशों ने भारतीय ज्योतिष से बहुत-सी बातें ग्रहण की थीं—भारतीय ज्योतिष का उन देशों पर नितरां प्रभाव पड़ा था।

उपर्युक्त अन्तरा (२०० से १२०० तक) के ज्योतिषियों में एक और महत्त्वपूर्ण और श्लाघनीय बात दृष्टिगोचर होती है कि उन्होंने परंपरागत ज्ञान में बहुत कुछ मौलिक संशोधन-परिवर्धन और साथ ही नूतन गवेषणा करने की भी चेष्टा की थी तथा उसमें पर्याप्त सफलता भी प्राप्त की थी।

सूर्य सिद्धान्त सूचित करता है[3] कि पृथ्वी का व्यास १६०० योजन है, (१ योजन=५ मील) उसकी परिधि निकालने के लिये कहा गया है कि इस व्यास में $\sqrt{१०}$ वा ३.१६२ का गुणा करना चाहिए। यहाँ π का मूल्य मोटे रूप से निर्धारित किया गया है। परन्तु इस ग्रंथ का द्वितीय अध्याय दिखाता है कि उसका रचयिता उसके एकदम शुद्ध मूल्य से अवगत था। परिधि संबंधी उपर्युक्त

---

१. दे०, पूर्व पृष्ठ।
२. खण्ड १, अध्याय ७।
३ १ ५८

श्लोक मे　भमध्य रेखा के　　　　　किसी भी अक्षांश की परिधि निकालने की रीति दी हुई है　श्लोक ६१ मे हिन्दुओं की शून्य देशान्तर रेखा पर जितने नगर स्थित हैं　उनकी नामावली गिनाई गई है। अगले दो श्लोकों म यह बताया गया है कि किस प्रकार हम जान सकते हैं कि कोई स्थान शून्य देशान्तर के पूर्व स्थित है　वा पश्चिम। श्लोक ६३ तथा ६४ में ग्रहण के आरंभ और समाप्ति के स्थानीय और प्रामाणिक समयों के अन्तर द्वारा देशान्तर निर्धारित करने की विधि बताई गई है। इसके पश्चात् शून्य देशान्तर रेखा के पूर्व और पश्चिम स्थित स्थानों के दिनमान का आरंभ निकालने की रीति दी हुई है। दूसरे अध्याय में आकाशस्थ आकर्षण शक्ति का इस प्रकार उल्लेख है—

तद्वातरश्मिभिर्नद्धा.........(उस वायु की रज्जु वा किरण से प्रेरित)।
प्राक् पश्चादपकृष्यते...............॥२॥
प्रवहाख्यो मरुत्तांस्तु[२]　स्वोच्याभिमुखमीरयेत्।
पूर्वापराकृष्टास्ते　गतिर्यान्ति　पृथग्विधा॥३॥

अगले अध्याय के प्रथम चार श्लोको मे शंकु की पूर्वाह्न और अपराह्न की छाया द्वारा दिशा ज्ञात करने की विधि का वर्णन है। श्लोक १३ तथा १४ बताते हैं कि विषुव, मध्याह्न सूर्य तथा शकु की छाया से किस प्रकार अक्षांश निकाला जा सकता है। तदपश्चात् तीन श्लोकों में मध्याह्न सूर्य की खस्वस्तिक दूरी तथा किसी स्थान का अक्षांश निकालने का नियम दिया हुआ है।

चौथे और पांचवें अध्याय में क्रमशः चान्द्र तथा सौर ग्रहणों के गणितीय सिद्धान्तो का विवेचन है। वह यह निश्चित रूप से द्योतित करता है कि सिद्धान्तकार ग्रहणों के वास्तविक कारण और उनकी संगणना की पद्धति से पूर्णपरिचित था। अध्याय ४ यह भी सूचित करता है कि सूर्य और चन्द्र का व्यास क्रमशः ६५०० और ४८० योजन है। यहां सूर्य का व्यास तो एकदम अशुद्ध है, किन्तु चन्द्रमा का व्यास प्रायः शुद्ध है। सूर्य सिद्धान्त के अध्याय १२ में पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षणशक्ति का इस प्रकार वर्णन है—

मध्ये समन्तादण्डस्य भूगोलो व्योम्नि तिष्ठति॥३१॥
बिभ्राणः परमां शक्तिं ब्रह्मणो धारणात्मिकाम्॥

"अंतरिक्ष में ब्रह्मांड में भारवहन करने वाली वा संतुलन स्थापित करनेवाली ब्रह्मा की अतुलित शक्ति को धारण करता हुआ पृथ्वी गोलक स्थित है।"

ऊपर के उद्धरण में दो बातों का उल्लेख है—एक तो 'भूगोल' शब्द के प्रयोग में पृथ्वी की गोलकाकृति का और दूसरे आकर्षण शक्ति का। इन दोनों बातों का अग्रलिखित पंक्तियों में और सुन्दर विशदीकरण किया गया है:—

---

१. १.५८

२. 'प्रवाहाख्य मरुत्" का शाब्दिक अर्थ है प्रवाह नामवाली वायु। कदाचित् उचित पारिभाषिक शब्द के अभाव में अदृश्य गुरुत्वाकर्षण शक्ति को अदृश्य वायु कहा गया है। रज्जु तथा किरणवाची शब्द "रश्मि" इस कथन की समीचीनता को प्रतिपादित करता है। पूर्व परिनिर्दिष्ट मैत्रेय ब्राह्मण से तुलना कीजिए

"जो लोग एक ही अक्षांश और सदृश देशान्तर पर रहते हैं वे सोचते हैं कि दूसरे उनके ठीक नीचे हैं, जैसा कि भद्राश्व वाले केतुमाल के बारे में सोचते हैं और लंकावाले सिद्धपुर के बारे में (इस प्रत्येक युग्म में एक देश दूसरे के ठीक विपरीत स्थित है); प्रत्येक स्थान में लोग अपने को ऊपर स्थित सोचते हैं, किन्तु वस्तुतः अंतरिक्ष में पृथ्वी की सत्ता एक गोलक जैसी है—उसमें न कहीं ऊपर है और न कहीं नीचे।"[1]

तदनंतर भूमध्यरेखा पर दिन और रात की समानता तथा अन्य अक्षांशों पर उनकी असमानता एवं हानि तथा वृद्धि की बात कही गई है। आगे उन स्थानों का उल्लेख है जहाँ रात और दिन दो मास, चार मास तथा छः मास के होते हैं। यह बात अत्यन्त ठीक-ठीक कही गई है।[2]

श्लोक ६७-६८ में कहा गया है कि जिस समय भारत में सूर्योदय होता है, उस समय भद्राश्व में मध्याह्न, कुरु में सूर्यास्त तथा केतुमाल में मध्यरात्रि होती है।

८० से ८७ तक के श्लोक सूचित करते हैं कि पृथ्वी से सूर्य और चन्द्र की दूरी क्रमशः ६,८९,४३० तथा ५१, ५६६ योजन है।[3] यहां चन्द्र की दूरी तो प्रायः आधुनिक गणना के तुल्य है, किन्तु सूर्य की दूरी बहुत अशुद्ध है।[4] किन्तु ज्योतिषियों को इतना अवश्य ज्ञात था कि पृथ्वी से सूर्य चन्द्रमा की अपेक्षा अधिक दूर है। पुराणकारों की धारणा ठीक इसके विपरीत थी।

प्राचीन समय में भारत में जितने खगोलविद् हुए हैं, उनमें केवल आर्यभट्ट (४७८ ई०) ही ऐसे थे जो यह मानते थे कि पृथ्वी स्थिर नहीं है, प्रत्युत घूमती है। उनके आर्यभटीय के गीतिकापाद के श्लोक ४ (प्राणेनैति कला भूः) तथा गोलपाद[5] के श्लोक ९ से यह बात एकदम निर्विवाद सिद्ध हो जाती है। यदि केवल इन्हीं दो श्लोकों को ध्यान में रक्खा जाय तो वे यही परिलक्षित करते हैं कि सुप्रथित ज्योतिषी पृथ्वी की दैनिक तथा वार्षिक दोनों गतियों से अवगत था। किन्तु गोलपाद के दशम श्लोक में आलोचकों के मस्तिष्क में कुछ भ्रान्ति-सी उत्पन्न कर दी है, इस कारण बहुसंख्यक लोग सोचते हैं कि आर्यभट्ट को केवल दैनिक गति का ही पता था।

गीतिका पाद में पृथ्वी और चन्द्रमा के व्यास भी प्रायः बहुत ठीक-ठीक दिए हुए हैं। पर सूर्य के व्यास की जो लंबाई दी हुई है, वह बहुत अशुद्ध है। यह पाद पृथ्वी से चन्द्रमा की दूरी भी प्रायः ठीक ही सूचित करता है।

---

१. १२. ४९-५०. ५१।

२. १२. ५३ से ६६ तक।

३. यहां १ योजन=५ मील है।

४. और दे०, श० बा० दीक्षित-कृत भारतीय ज्योतिष का हिन्दी अनुवाद, पृ० ४२२-२३।

५. अनुलोमगतिनौस्थः पश्यत्यचलं विलोमगं यद्वत्।
अचलानि भानि तद्वत् सम पश्चिमगानि लङ्कायाम्॥९॥

"जैसे चलती हुई नाव पर बैठा हुआ मनुष्य किनारे के स्थिर पेड़ों को उलटी दिशा में चलता हुआ देखता है, वैसे ही लंका (भूमध्य रेखा) से स्थिर तारे पश्चिम की ओर चलते हुए दिखाई पड़ते हैं

गोलपाद (श्लोक ५) कहता है कि पृथ्वी, ग्रह, तारे स्वयं प्रकाशित नहीं हैं अपितु सूर्य के ही प्रकाश से प्रकाशित होते हैं। तारों के संबंध में यह कथन भ्रान्तिपूर्ण है। श्लोक ८ एक बड़ी विचित्र बात कहता है कि ब्रह्मा के दिन में पृथ्वी की गोलाई एक योजन बढ़ जाती है और ब्रह्मा की रात्रि में एक योजन घट जाती है। श्लोक १३ में एक ही अक्षांश पर स्थित विभिन्न नगरों के समयों में अन्तर का कारण दिया हुआ है। श्लोक १४ में लंका से उज्जैन का अंतर बताया गया है, जिससे लंका का अक्षांश ज्ञात होता है।

पंच सिद्धान्तिका में कुछ ऐसी बातें दी हुई हैं, जो कम से कम कालानुक्रम की दृष्टि-कोण से पर्याप्त महत्त्वपूर्ण हैं। वैसे पंचसिद्धान्तिका पाँच पुराने सिद्धान्त ग्रन्थों का निचोड़ मात्र है, किन्तु उसका "त्रैलोक्य संस्थान" नामक त्रयोदश अध्याय वराहमिहिर की मौलिक रचना प्रतीत होता है। इस अध्याय का प्रथम श्लोक[1] दिखाता है कि वराहमिहिर तारों की आकर्षणशक्ति से परिचित थे और यह जानते थे कि उनसे परिवृत्त पृथ्वी आकाश में निराधार स्थित है। चौथे श्लोक में वे पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति का भी उल्लेख करते हैं। चन्द्रमा के सूर्य द्वारा प्रकाशित होने और उसकी कलाओं की हानि-वृद्धि का पर्याप्त स्पष्ट और वैज्ञानिक निदर्शन किया गया है,[2] जैसे-जैसे प्रतिदिन चन्द्रमा का स्थान सूर्य के सापेक्ष बदलता है, वैसे-वैसे उसका प्रकाशमय भाग बढ़ता जाता है, ठीक उसी भाँति जैसे अपराह्न में घड़े का पश्चिम भाग अधिकाधिक प्रकाशित होता जाता है।" उसी अध्याय के ३१ से ३८ तक के श्लोकों में वे कहते है कि ध्रुव तारे द्वारा किसी स्थान का और इस प्रकार दो स्थानों के अक्षांश जानकर समस्त पृथ्वी का विस्तार निकाला जा सकता है।

अत्यन्त प्रतिभाशाली खगोलवेत्ता ब्रह्मगुप्त के ग्रंथों में ब्रह्मस्फुटसिद्धान्त का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। ये ६२८ ई० में हुए थे। इनके इस ग्रंथ में भी ज्योतिष और गणित-भूगोल-संबंधी प्रायः वे ही सूचनाएँ मिलती हैं, जिनका ऊपर विवेचन किया जा चुका है। इस संबंध में इस ग्रंथ के अध्याय १, ३, ४, ५ तथा २१ विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। अंतिम गोलाध्याय में भूगोल-संबंधी गणना की कुछ बातें दी हुई हैं।

वराहमिहिर की भाँति[3] लल्लाचार्य वा लल्ल[4] (लगभग ६ठीं शती) ने भी अपने शिष्यधीवृद्धिद नामक ग्रंथ में यही कहा है कि आकाश में आकर्षण शक्ति काम करती है और पृथ्वी तारों के बीच निराधार स्थित है। आगे लल्ल[5] सूचित करते है कि किस प्रकार एक ही काल में लंका में सूर्योदय, यमकोटि में मध्याह्न, सिद्धपुर में संध्या तथा रोम में मध्यरात्रि होती है। ये नगर भूमध्यरेखा पर परस्पर ९०° अक्षांश की दूरी पर स्थित बताए गए हैं। लल्ल को देशान्तर निकालने की विधि भी ज्ञात थी।[6] वे पृथ्वीकेन्द्रिक (Geometric theory) सिद्धान्त के मानने वाले थे।[7]

---

१. "पंचभूत से बनी पृथ्वी का गोलक तारों के पंजर (ठठरी) में उसी प्रकार स्थित है जिस प्रकार चुंबकों के बीच लोहा।" २. पञ्चसिद्धान्तिका १३ . ३७।
३. दे०, पूर्व पृष्ठ। ४. भूगोलाध्याय, श्लोक २। ५. भूगोलाध्याय, श्लोक १२।
६. श्लोक १६। ७ , श्लोक ४२

सोमसिद्धान्त (५५० से ९५० के बीच) कहता है कि पृथ्वी कैत या कपित्थ के आकार की है और हम उसे अत्यन्त लघुकाय होने के कारण चपटी और चक्राकार देखते हैं।[१] आर्यभट्ट द्वितीय (९५० ई०) के महासिद्धान्त मे भी पृथ्वी को कन्दुकाकार बताया गया है।[२] श्रीपति का सिद्धान्त-शेखर भी ध्रुवतारे से[३] अक्षांश और देशान्तर[४] निकालने की पद्धति बताता है। इसमे सूर्य सिद्धान्त की बहुत-सी बातो को बड़े सुचारु और तर्कयुक्त ढंग से प्रस्तुत किया गया है।[५]

कालानुक्रम के अनुसार सबके पीछे भास्कराचार्य (११५० ई०) आते है। भारतीय ज्योतिर्विदों में इनका मूर्धन्य स्थान है। सिद्धान्तशिरोमणि इनका अत्यन्त उत्कृष्ट ग्रंथ है। यह गणिताध्याय और गोलाध्याय नाम के दो भागों में विभक्त है। दोनों में ही ज्योतिपियों के इस सिरमौर ने कुछ न कुछ नवीन और मौलिक बातें दी हैं।

हम सर्वप्रथम गणिताध्याय को लेते हैं। इसके मध्यमाधिकार नामक अध्याय में[६] देशान्तर, देशान्तर रेखा पर का समय, दिनमान और दिवसारंभ तथा एक अक्षांश की विविध रखिक लंबाइयाँ निकालने की विधि दी हुई है। त्रिप्रश्नाधिकार में सूर्य और ध्रुवतारे से दिशा जानने की रीति निर्दशित की गई है।

तत्पश्चात् गोलाध्याय आता है। इसके गोलस्वरूप नामक द्वितीय अध्याय में भूगोल सबधी कुछ बड़े युक्तिसंगत और वैज्ञानिक प्रश्न उठाए गए हैं। भुवनकोष नामक अध्याय में बडे बलपूर्वक कहा गया है कि पृथ्वी गोलकाकार है और अंतरिक्ष में गुरुत्वाकर्षण[७] के कारण निराधार स्थित है। इन्होंने बौद्धों के उस मत का खंडन किया है जिसके अनुसार पृथ्वी निरतर नीचे चली जा रही है। आगे चलकर पृथ्वी का व्यास, परिधि और क्षेत्रफल दिया हुआ है। प्रसग में π का बहुत ही शुद्ध-शुद्ध मूल्य (३.१४१६) लिया गया है। भास्कराचार्य ने पृथ्वी का एकदम शुद्ध क्षेत्रफल निकाला है। उनका सूत्र है ४π अ^२ (जहाँ अ=पृथ्वी का अर्ध व्यास है)।

मध्यगतिवासना मे वे घोषित करते हैं कि पृथ्वी स्थिर है। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि इतने बड़े प्रतिभाशाली ज्योतिर्विद होते हुए भी इन्होंने अपने पूर्ववर्ती आर्यभट्ट के मत पर तनिक भी ध्यान न दिया।[८] भास्कराचार्य के अनुसार सौर वर्ष में ३६५ दिन, १५ घटी, ३० पल तथा २२½ विपल या ३६५ दिन, ६ घंटे १२ मिनट तथा .३७५ सेकेण्ड होते हैं।[९] आधुनिक वैज्ञानिकों के मतानुसार सौर वर्ष में ३६५ दिन, ५ घटे, ४८ मिनट और ४६.०५४४ सेकेण्ड होते हैं।

---

१. गोलाध्याय, श्लोक ३२।

२. भुवनकोश प्रश्नोत्तर, श्लोक ५।

३. ४.१२२–२३। ४. अध्याय २। ५. यथा १०.१।

६. श्लोक ५–६–७ (और दे०, गोलाध्याय में मध्यगतिवासना)।

७. भुवनकोश—

आकृष्टशक्तिश्च मही तया यत्, स्वस्थं गुरुस्वाभिमुखं स्वशक्त्या।
आकृष्यते तत्पततीव भाति, समे समन्तात् क्व पतत्वियं खे ॥६॥

८. दे० पूव पृष्ठों मे ९. श्लोक ८

तत्पश्चात त्रिप्रश्नाध्याय आता है। इसमें सूर्यान्यकार निकालने की रीति बताई गई है और विभिन्न स्थानों के विभिन्न समयों के दिनमान निकाले गए हैं। साथ ही भूमध्य रेखा पर दिन और रात के समान होने का कारण बताया गया है। आगे ६६° अक्षांश के पश्चात् दिन और रात की लंबाई तथा तत्संबंधी विविध बातों का विवेचन है। इस प्रसंग में यह भी बताया गया है कि ध्रुवों पर रात और दिन छः-छः मास के होते हैं। अंत में ध्रुवतारे से अक्षांश निकालने की विधि का निदर्शन है।

संप्रति ज्योतिष के इतिहास की जिस अवस्था का विवेचन चल रहा है, उसमें ग्रहणों के सिद्धान्त से लोग पूर्ण परिचित हो गए थे और उनकी गणना भी पर्याप्त परिमार्जित हो चुकी थी।

ब्राह्मणिक वाङ्मय की इस शाखा का विवेचन योगवाशिष्ठ के किंचित् परिनिर्देश और पर्यालोचन बिना पूरा नहीं कहा जा सकता। इसमें आकाशस्थ पिंडों की आकर्षण शक्ति और आकृतियों का वर्णन बड़े रमणीय ढंग से प्रस्तुत किया गया है—"नभस्थ गोलकाकार पिंडो में एक दूसरे को अपनी ओर आकृष्ट करने का स्वाभाविक भौतिक गुण होता है, उनकी यह विशेषता उनसे एकदम संपृक्त होती है, ठीक उसी प्रकार, जैसे कंकण में नग।"[1] आगे पृथ्वी के गोलकाकार स्वरूप तथा गुरुत्वाकर्षण शक्ति का बड़ा काव्यात्मक वर्णन दिया हुआ है, "जैसे बालक के संकल्प से परिकल्पित गेंद आकाश में रहता है, वैसे ही हिरण्यगर्भ रूपी बालक द्वारा परिकल्पित भूमि भी आकाश में टिकी रहती है, गिरती नहीं।"[2]

जैन-स्त्रोत

जैन भी यही मानते थे कि पृथ्वी (मनुष्य लोक) गोलकाकार (अति गोल—ellipse) है।[3] आगे इसी ग्रंथ में दिन-रात के होने का कारण निर्दशित है, साथ ही उनकी अवधि का भी विवेचन है।[4] लोकविभाग नामक ग्रंथ के ज्योतिर्विभाग प्रकरण में दिन-रात की लंबाई, मलमास, विषुवों, अयनद्वय तथा चन्द्रमा की कलाओं आदि का निरूपण है। सूर्य प्रज्ञप्ति कहती है कि जब दिन की लंबाई १८ मुहूर्त होती है, तो पृथ्वी के ७२००० योजन में प्रकाश होता है तथा जब दिन १२ मुहूर्त का होता है तो पृथ्वी का ४८००० योजन प्रकाशित होता है।[5] किन्तु इन काल्पनिक आँकड़ों के लिए कोई कारण या विवेचन नहीं प्रस्तुत किया गया है।

---

१. प्रत्येकस्वस्याण्डगोलस्य स्थित: कण्टयारत्नवत्।
भूताकृष्टकरोभाव: पार्थिव: स्वस्वाभाव:।।उत्पत्तिप्रकरण ३०.३२।

२. यथा संकल्प रचिता शिशो व्योम्नि तिष्ठति।
वीटा चिन्मात्र वालेन कल्पिताभस्तथाम्बरे।।२।। निर्वाणप्रकरण उत्तरार्द्ध, सर्ग, १२७।

३. तिलोय पण्णत्ती ४, ६, पृ० १४२।

४. ७.२७६—२८९।

५. सूय प्रज्ञप्ति प्राभृत २ प्राभृतोप्राभृत ३

बहुसंख्यक जैन ग्रंथों में[1] एक बड़ी विचित्र बात यह कही गई है कि हमारी पृथ्वी के दो सूर्य तथा दो चन्द्र हैं। पता नहीं जैनों की इस धारणा का क्या कारण था! सूर्यप्रज्ञप्ति[2] ने ग्रहणों के संबंध में दो मत व्यक्त किए हैं। वह द्योतित करती है कि सूर्यप्रज्ञप्तिकार सूर्य और चन्द्र के छाया में पड़ने के वास्तविक सिद्धान्त से परिचित था और लोगों का एक वर्ग इस मत से सहमत था। परन्तु सूर्यप्रज्ञप्तिकार ने स्वयं इस मत को नहीं माना है और परंपरागत काल्पनिक विचार तथा यथार्थ सिद्धान्त को मिला दिया है। वह कहता है कि जब राहु सूर्य और चन्द्र के प्रकाश को आच्छादित कर लेता है तो ग्रहण होते हैं।

तत्त्वार्थाधिगम में आकर्षण शक्ति का निश्चित परिनिर्देश आया है।[3] वह घोषित करता है कि ब्रह्माण्ड के पिंड आकाश के आधार पर स्थित हैं और आकाश स्वयं निराधार है।

बौद्ध-वाङ्मय

दिव्यावदान (१५० ई० पू० से ३०० ई०) ब्रह्माण्ड में पृथ्वी की स्थिति के संबंध में कहता है, "आनन्द यह पृथ्वी जल पर स्थित है, जल वायु पर, तथा वायु आकाश (निराधार) पर।"[4] प्रथमशती के मिलिन्दपञ्हो में भी इसी बात की पुनरावृत्ति की गई है।[5] परन्तु इन ग्रंथों की शब्दावली यह स्पष्ट नहीं करती कि बौद्धों का यह वर्ग आकाशस्थ आकर्षण शक्ति से परिचित था या नहीं। अभिधर्मकोश की कारिकाओं (४५–००७) में[6] इसी विषय का निदर्शन है और उनका निर्वचन भी दिव्यावदान की उपर्युक्त पंक्तियों की ही भाँति किया जा सकता है।

अभिधर्मकोशकार यह जानता था कि चन्द्रमा स्वयं प्रकाशित नहीं है, अपितु वह सूर्य के ही प्रकाश से प्रकाशित होता है।[7] यहां यह भी बताया गया है कि सूर्य का व्यास चन्द्रमा के व्यास से बड़ा है। किन्तु इस संबंध में जो आँकड़े दिए गए हैं, वे एकदम अशुद्ध हैं।[8]

आगे यही ग्रंथ सूचित करता है कि विभिन्न महाद्वीपों के विभिन्न देशान्तरो के समयों में अंतर होता है। जिस समय जम्बूद्वीप में मध्याह्न होता है, उस समय उत्तर कुरु में अर्धरात्रि, पूर्व-

---

१. यथा दे०, उपर्युक्त प्राभृत १९, पत्रा २७२।

२. प्राभृत २०, सूत्र १०५।

३. अध्याय ३, सूत्र १।

४. कोवेल तथा नील संपादित "दिव्यावदान" अवदान १७, पृ० २०४। पूर्व पृष्ठों में परिनिर्दिष्ट गोपथ ब्राह्मण से तुलना कीजिए।

५. The Questions of King Milinda—Trans. T. W. R. Davids III-5, p. 106.

६. तृतीयकोशस्थान। दीघनिकाय भी यही मत प्रकट करता है। मूल १६.३.१३, पृ० १०७।

७. तृतीय कोशस्थान, कारिका ६२।

८ वही कारिका ६०।

विदेह में सूर्यास्त और अवरगोदानीय में सूर्योदय होता है।[१] इस सूचना के आधार पर तर्क की शृंखला द्वारा यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अभिधर्मकोष का प्रणेता यह जानता था कि पृथ्वी गोलकाकार है। एक दूसरे प्रमाण के[२] आधार पर यह निश्चित रूप से विदित होता है कि बौद्धो को ३००-४०० ई० पू० यह ज्ञान था कि पृथ्वी की अति गोलक जैसी है।

अभिधर्मकोशकार यह जानता था कि सूर्य की उत्तरायण और दक्षिणायन गति से पृथ्वी के स्थानों में विभिन्न ऋतुओं में रात-दिन घटा-बढ़ा करते हैं।[३] दिव्यावदान भी इस भौगोलिक तथ्य से परिचित था। इस ग्रंथ में कुछ निवारण भी दिया हुआ है तथा यह भी बताया गया है कि किन तिथियों को दिन सबसे बड़ा और सबसे छोटा होता है।[४]

जातक यह दिखाते हैं कि जातककालीन बौद्ध ग्रहणों से तो परिचित थे, किन्तु उनके वास्तविक वैज्ञानिक सिद्धान्त से कदाचित् अनभिज्ञ थे। उन्होंने हिन्दुओं की उसी अत्यन्त प्राचीन परपरागत बात को दुहराया है कि वे राहुग्रसन के परिणाम स्वरूप होते हैं।[५] परन्तु दीघनिकाय (५०० वा ५५० ई० पू०) में[६] एक स्थलपर ग्रहणों के संबंध में भविष्यवाणी की बात कही गई है। तो क्या दीघनिकायकार को गणितीय सिद्धान्तों का पता था, जिनके आधारपर उसने ग्रहणो के संबंध में भविष्यवाणी की बात कही है।

वण्णुपथ जातक के[७] अनुसार यात्री रात्रि के समय तारों द्वारा दिशाओं का पता लगाते थे। जातकों के कुछ अनुवादकों के अनुसार दिशाका कोश का[८] भी प्रयोग दिशा जानने के लिए किया जाता था।

---

१. वही, कारिका ६२।

२. कोबेल संपादित जातकों का अनुवाद; जिल्द ३, नं० ४२७ गिज्झजातक।

३. अभिधर्मकोष ३.६२।

४. दिव्यावदान; अवदान ३३, पृ० ६४२;

"एवं विपरिवर्तमाने लोकनक्षत्रेषु प्रतिभक्तेषु कति रात्रिन्दिवसानि भवन्ति। कथं ह्रासः। वृद्धिश्च। तद् उच्यते। हेमन्तानां द्वितीये मासे रोहिण्याम् अष्टम्यां द्वादशमुहूर्तो दिवसो भवति अष्टादश मुहूर्ता रात्रिः। ग्रीष्माणां पश्चिमे मासे रोहिण्याम् अष्टम्यां अष्टादश मुहूर्तो दिवसो भवति, द्वादश मुहूर्ता रात्रिः। वर्षाणां पश्चिमे मासे रोहिण्याम् अष्टम्यां चतुर्दश मुहूर्तो दिवसो भवति षोडश मुहूर्ता रात्रिः।"

५. Eng. Trans. of the Jatakas, Edited by Cowel I-65, III-222, IV-228 etc.

६. दीघनिकाय डेविड्स कृत आंग्लानुवाद, भाग १, १.१.२४, पृ० २०

७. जातकों का आंग्लानुवाद, कोबेल, जिल्द २, जातक २।

८. Text edited by Fausboll, Jatako No. 339. (बवेरुजातक), No 384. (धम्मपद जातक)। और दे०, भदन्त आनन्द कौशल्यायन कृत जातकों का हिन्दी अनुवाद।

नाट्य में शान्तरस

श्री शंकरदत्त ओझा

भरत ने नाट्यशास्त्र में शृंगारादि केवल आठ रसों का उल्लेख किया है, साथ ही उनके आठ स्थायी भावों के भी लक्षण एवं उदाहरण दिए हैं। किन्तु नाट्यशास्त्र के गायकवाड संस्करण में रसो के प्रकरण में शान्तरस तथा इसके स्थायीभाव शम का उल्लेख मिलता है। इसी पाठ को लेकर प्राचीन एवं अर्वाचीन साहित्यिकों में शान्तरस की मान्यता पर बड़ा वाद-विवाद हुआ है। अभिनवगुप्त जैसे साहित्य महारथी ने नाट्यशास्त्र की अपनी टीका "अभिनवभारती" मे शान्तरस के विरोधी, प्रचलित एवं काल्पनिक मतों का जोरदार खण्डन करके शान्त को आठ रसों से पृथक रस ही नहीं, अपितु उसे अन्य सभी रसों का जन्मदाता तक स्वीकार किया है। आधुनिक विद्वान् डा० राघवन ने अपनी पुस्तक "दि नम्बर ऑफ रसज़" में अभिनव गुप्त के स्वर में ही बडी विदग्धता से शान्तरस की सत्ता सिद्ध की है, तथा अभिनवगुप्त की ही भाँति यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि भरत ने भी शान्तरस को स्वीकार किया है।

भरत के बाद आचार्य दंडी तक आठ ही रसों का उल्लेख मिलता है। महाकवि कालिदास भी भरत को आठ रसों के समर्थक मानते हैं (द्रष्टव्य विक्रमोर्वशीय, २; १८)। काव्यालंकार-सारसंग्रह के रचयिता उद्भट ने नौ रसों की सत्ता स्वीकार की है। यह शान्त को, स्वीकार करने वालों में प्रथम आलंकारिक हैं। बहुत संभव है, इन्होंने ही नाट्यशास्त्र में शान्तरस को जोड़ दिया हो, क्योंकि इन्होंने भी नाट्यशास्त्र पर टीका की है (द्रष्टव्य, वी० राघवन––दि नम्बर ऑव रसज़, पृष्ठ १३)।

वस्तुतः भरत ने शान्तरस को स्वीकार नहीं किया। शान्त रस की स्थापना में अभिनवगुप्त का प्रमुख तर्क यह है कि भरत ने शान्त का उल्लेख क्यों नहीं किया। उन्होंने भरत के द्वारा शान्तरस का उल्लेख न किए जाने के कई कारण दिए हैं। शान्त के समर्थकों ने भरत के गिनाए हुए धृति, निर्वेद या किसी अन्य व्यभिचारी को शान्त का स्थायी इसलिए माना है, क्योंकि उन्हें पूर्णरूप से ज्ञात था कि भरत ने शान्त एवं उसके स्थायी को स्वीकार ही नहीं किया था। आनन्दवर्धन भी यदि भरत को शान्त के समर्थक समझते तो ध्वन्यालोक के तीसरे उद्योत में शान्त की सिद्धि करते समय भरत की मान्यता की छाप उस पर अवश्य लगाते, जैसा कि अन्य बातों में किया है। आनन्दवर्धन ने शान्तरस को मौलिक ढंग से अपने तर्कों के आधार पर स्वीकार किया है, क्योंकि उन्होंने नाट्यशास्त्र के शान्तरस का उल्लेख करने वाले प्रक्षिप्त पाठ में वर्णित न तो निर्वेद और न शम को ही शान्त का स्थायी माना है। इससे स्पष्ट है कि [illegible] ने [illegible] के उस अंश को प्रक्षिप्त माना है, भरत का लिखा हुआ नहीं इसी लिए उन्होने शम और निर्वेद को शान्त का स्थायी न

तृष्णाक्षयसुख माना है — तृष्णानां विषयाणां य क्षय सर्वतोनिवृत्तिरूपा निरोध तदेव सुखम —ध्वन्यालोकलोचन

अतः सभी इस बात पर एकमत हैं कि भरत के प्रामाणिक पाठ में शान्त का उल्लेख नहीं है। इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय बात है कि भरत ने भिन्न-भिन्न स्थलों पर केवल आठ रसों के लिए ही लय, स्वर, गुण, अलकार, वृत्ति इत्यादि का वर्णन किया है। शान्त के स्वर गुण, इत्यादि का कहीं नाम नहीं लिया है। इसके अतिरिक्त भरत ने संगीत एवं रस में निकट का सम्बन्ध माना है, उन्होंने केवल आठ रसों के ही व्यंजक जात्यंशों का उल्लेख किया है, शान्त के व्यंजक किसी जात्यंश का वर्णन नहीं किया। (द्रष्टव्य नाट्यशास्त्र २९; श्लोक १–४)। छठे अध्याय (जहां रसों का वर्णन है) के अन्त में कई बार रसों के सम्बन्ध मे "इत्यष्टौ" शब्द का ही उल्लेख मिलता है। अतः यह निर्भ्रान्ति है कि भरत ने शान्तरस का वर्णन नहीं किया, और उन्हें शान्त मान्य नहीं था।

शान्तरस के जन्म एवं विकास का ज्ञान प्राप्त करने के लिए संस्कृत साहित्य पर विहगम दृष्टि डालनी पड़ेगी। संभवतः बौद्ध एवं जैन विचारधारा के उद्गाता कवियों एवं नाट्यकारों ने काव्यजगत् में शान्त का प्रवेश कराया। इन कवियों एव नाट्यकारों ने अपनी कृतियों को धार्मिक एव दार्शनिक विचारों का वाहन बनाकर शान्त को नाट्य में अंगीरस का स्थान दिया। अभिनवभारती मे दिए हुए उद्धरणों से ज्ञात होता है कि नाट्याचार्य राहुल जो कि बौद्ध थे, भरत के अनेक सिद्धान्तों से विपरीत मान्यता रखते थे। जैन ग्रन्थ "अनुयोगद्वारसूत्र" (ईसवीय पंचम शताब्दी) में नौ रसों का उल्लेख मिलता है, जिसमें आठ रसों के अतिरिक्त प्रशान्त नामक नवम रस का उल्लेख किया गया है। उपर्युक्त ग्रन्थ में ये नौ रस निश्चित रूप से काव्य के रस माने गए हैं (णव कव्व रसा)। शान्तरस के प्राचीन समर्थकों ने नागानन्द नाटक को जो कि बौद्ध कथानक पर आधारित है, शान्त रस का नाटक माना। सम्भवतः नागानन्द की रचना के बाद ही शान्तरस साहित्यशास्त्र में विवाद का विषय बन गया। जैसा कि बाद में हम देखेंगे कि उक्त नाटक का अंगीरस शान्त नहीं अपितु वीर है।

यहाँ यह विचार करना आवश्यक है कि वस्तुतः काव्य में शान्तरस की मान्यता कहाँ तक स्वीकार्य है। डा० राघवन ने अभिनवगुप्त के पक्ष का समर्थन किया है। शान्तरस का उल्लेख करने वाले नाट्यशास्त्र के उस प्रक्षिप्त पाठ पर अभिनवगुप्त ने बड़ी कुशलता से शान्त रस को सिद्ध किया है, और उसे अन्य रसों का उद्भवस्थल माना है। यहाँ पर शान्त के पक्ष में दिए गए अभिनवगुप्त तथा डॉ० राघवन के तर्कों का सार दिया जा रहा है :—

(१) भरत ने सम्पूर्ण जगत् का विश्लेषण किया है और मानवमन की प्रत्येक गतिविधि व प्रतिक्रिया का अन्वेषण किया है। अतः यह आश्चर्य की बात है कि वे मानवव्यक्तित्व में शान्त जैसे भाव को पहचान न सके हों। सिद्धान्त के रूप में शान्तरस को मान्यता न मिलने का यह मतलब तो नहीं है कि शान्तरस का व्यंजक काव्य ही कभी नहीं था। इस प्रकार की धारणा तो वैसे ही उपहासास्पद होगी जैसे यह कहना कि रसध्वनि को आत्मतत्व मानने के पहले रसध्वनि से गर्भित कविता जन्मी ही नहीं थी। लक्ष्य का जन्म पहले होता है लक्षण का बाद में यह सर्वमान्य तथ्य है। आनन्दवर्धन के मत मे शान्त रस का श्रेष्ठ उदाहरण है ऋषि जीवन म

एव सयासाश्रम त्याग तप तपोवनादि के वणन से ओतप्रोत काव्य ही उत्तमोत्तम माने गए है भरत ने स्वय नाट्य को ऋषियो को सौपा है। अतः भरत को ऋषिजीवन, तप, त्याग जैसे शान्त भावों से भरा वीतराग जीवन अभीष्ट नहीं था, यह कहना अत्यन्त कठिन है।

(२) भरत का कथन है कि भिन्न-भिन्न रुचि के व्यक्तियों के अनुसार नाट्य भी भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। और नाट्य उसी अंगी रस का वर्णन करता है जिसका भोग वे ही करते है जिनके हृदय एवं उस रस में संवाद हो। अतः यह स्वतः सिद्ध है कि भरत अनजाने में शान्त को स्वीकार करते है, क्योंकि उनकी उक्ति है :—

"क्वचिद्धर्मः क्वचित्क्रीड़ा क्वचिदर्थः क्वचित् शमः ।— "(नाट्यशास्त्र १; १०६) अभिनवगुप्त ने "क्वचित् शमः" को उद्धृत कर यह सिद्ध किया है कि भरत ने शान्तरस को माना है।

(३) २७ वे अध्याय में भरत का कथन है कि नाट्य का दर्शक के हृदय से संवाद होना— दर्शक को कथानक पूर्णतः रुचिकर लगना ही नाट्य का मुख्य कार्य है, क्योंकि मानव हृदय उन्ही कथानकों में आनन्द पाता है जो उसे अत्यन्त प्रिय हों और उन कथानकों के साथ उसका पूर्ण सामंजस्य हो। अतः दर्शक यदि वीतराग है तो मोक्षविषयक नाट्य ही उसे प्रिय लगेंगे :—

"तुष्यन्ति तरुणाः कामे विदग्धाः समयाश्रिते।
अर्थेष्वर्थपराश्चैव मोक्षेष्वथ विरागिणः॥" (नाट्य शास्त्र २७; ५९ काशी सस्करण)

(४) भरत ने नाट्य में धर्म को पर्याप्त स्थान दिया है। नाटक को उन्होंने धर्म्य कहा है। वृद्ध और विद्वज्जनों को धर्माख्यान ही रुचिकर लगता है, और यह धर्माख्यान शान्त के विभावानुभावों में आता है :—धर्माख्यानपुराणेषु वृद्धास्तुष्यन्ति नित्यशः (नाट्यशास्त्र २७; ६१)।

(५) निर्वेद का वर्णन करते समय भरत ने तत्वज्ञान से उत्पन्न निर्वेद का उल्लेख किया है। ग्लानि के कारणों को बतलाते हुए उन्होंने तपोनियम की चर्चा की है। धृति की परिभाषा करते समय भरत ने विज्ञान, श्रुति, शौचाचार और गुरुभक्ति को उसके विभाव के रूप में गिनाया है। स्पष्ट है कि ये सभी शान्तरस में गतार्थ हैं। यदि भरत को शान्त स्वीकृत न होता तो वे नाट्य को त्रैलोक्यानुकरण न कहते, और न यही कहते कि ऐसा कोई ज्ञान और ऐसी कोई विद्या नही है जो नाट्य का अंग न हो— "न तत्ज्ञानम् इत्यादि (नाट्यशास्त्र १; ११६)।

शान्त विरोधी प्रचलित तर्क इस प्रकार दिए गए हैं :—

शान्त के पक्ष में उपर्युक्त सभी तर्क केवल इसी बात की ओर इगित करते हैं कि भरत ने शान्त को एक भाव के रूप में स्वीकार किया है, रस के रूप में नही; क्योंकि ४९ भावों में उन्होने शम की गणना नहीं की। यह कथन बहुत कुछ सत्य है कि केवल भयानक, बीभत्स और अद्भुत रस वाले नाट्य भी संभव नहीं है। ये केवल अंग एवं संचारी रस के रूप में नाटक में आ सकते है। किन्तु भयानक, अद्भुत एवं बीभत्स को रस इसलिए माना गया है कि ये मानव हृदय के अत्यन्त साधारण विकार हैं और शान्त की अपेक्षा अत्यधिक प्रभावशाली हैं। शम का भाव वास्तव मे असम्भव ही है।

शान्तरस का सबसे बड़ा विरोधी है मनुष्य का अज्ञान। अज्ञान और अविद्या रागद्वेष के उत्पादक तथा आठ रसों के भी कारण हैं। ——— इस अविद्या का विनाश संभव नहीं है। शम का भाव अविद्या के अभाव म ही समव है अत शम की सत्ता ही समव नहीं

है क्योंकि अविद्या अनादिकाल से चली आ रही है उसका समूल नाश प्राय हो ही नहीं सकता। दशरूपकावलोक का कथन है अन्य तु वस्ततस्तस्य भाव वर्णयन्ति अनादिकाल-प्रवाहायातरागद्वेषयोरुच्छेत्तुमशक्यत्वात्।" शान्त के विरुद्ध यह आपत्ति नाट्य के सम्बन्ध मे बिलकुल ठीक है, क्योंकि सामान्यत: नाट्य मनोरंजन के लिए ही होता है। नाट्य का वर्ण्यविषय सांसारिक वस्तुएँ ही होती हैं। भरत नाट्य को मनोरंजनार्थ ही मानते हैं। भामह का भी कथन है कि यद्यपि महाकाव्य चार पुरुषार्थों का वर्णन करते हैं, किन्तु नाट्य मुख्यत: अर्थपरक ही होता है— "चतुर्वर्गाभिधानेऽपि भूयसार्थोपदेशकृत्" (काव्यालंकार, १; २०-२१)

अभिनवगुप्त भरत की नाट्य परिभाषा की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते है। उस परिभाषा में भरत ने इस बात पर बड़ा आग्रह दिखाया है कि नाट्य में सांसारिक वैभव-विलासादि का वर्णन पर्याप्त मात्रा में होना चाहिए। इसी दृष्टिकोण से अभिनवगुप्त ने (जो कि शान्त के कट्टर पक्षपाती हैं) यहां तक स्वीकार किया है कि शान्त नाट्य में गौण तत्व है, प्रधान नहीं— "अतएव शान्तस्य स्थायित्वेऽप्यप्राधान्यम्" इत्यादि (नाट्यशास्त्र गायकवाड़ संस्करण, १, पृ० ३३९)।

यही कारण है कि ध्वन्यालोक के चन्द्रिका टीकाकार ने कहा है कि आनन्दवर्धन का शान्तरस वस्तुत: रस है, किन्तु नाट्य मे केवल प्रासगिक इतिवृत्त के अंगरस के रूप में आ सकता है, आधिकारिक इतिवृत्त के अंगीरस के रूप में नही। चन्द्रिकाकार ने नागानन्द में वीर एवं शृंगार को ही माना है, क्योंकि नागानन्द नाटक का प्रयोजन विद्याधर चक्रवर्तित्व प्राप्त करना है। इसके अतिरिक्त समस्त नाटक प्रणय से व्याप्त है जो कि शान्त का घोर विरोधी है। शम का भाव नाटक में अंगरूप मे आया है जो कि वीर रस के एक भेद दयावीर में ही अन्तर्भूत है। अत: यहाँ वीर ही प्रधान रस है। नाटक मे शृंगार रस वीरत्व का पोषक ही सिद्ध हुआ है, क्योंकि इन दोनों की सहस्थिति मे कोई विरोध नहीं है। नागानन्द के अंगीरस के सम्बन्ध में चन्द्रिकाकार का मत अक्षरश सत्य है।

निष्पक्ष होकर यदि हम ध्यान से शान्त पर विचार करें तो यह ज्ञात होगा कि वस्तुत: शान्त को रस नहीं माना जा सकता। डा० राघवन अभिनवगुप्त के परम पक्षपाती हैं, क्योंकि सर्वत्र उन्होंने अभिनवगुप्त के स्वर में स्वर मिलाया है। नाट्य के विषय में भरत प्राचीनतम सर्वमान्य आचार्य है। अतएव डा० राघवन की प्रस्थानवादिता पाक्षिक रही, क्योंकि भरत के सिद्धान्तों को एवं शान्तरस सम्बन्धी भरत की व्यावहारिकता को वे पहचान न सके। यहां उन तर्कों का क्रमश: उत्तर देने का प्रयत्न किया जायगा जो शान्त के पक्ष में अभिनवगुप्त एवं डा० राघवन ने दिए हैं।

(१) शान्त के पक्ष में यह तर्क कि भरत ने सम्पूर्ण जगत् का विश्लेषण तथा मानवमन की प्रत्येक प्रतिक्रिया का अन्वेषण किया है अत: उन्होंने शान्तरस को स्वीकार किया है, केवल संभावना-मूलक है। यह अक्षरश: सत्य है कि भरत ने जगत् का विश्लेषण तथा मानवमन की प्रत्येक प्रतिक्रिया को पहचाना है; किन्तु शान्त का भाव भरत के मत में स्थायीभाव के रूप में कभी नहीं था। उन्होंने उस वीतराग के मन की प्रतिक्रिया को अवश्य पहचाना है जो सांसारिक नश्वर सुख-सन्तोष से घृणा निर्वेद तथा जुगुप्सा के भाव से युक्त रहती है। वस्तुत विरले ही ऐसे व्यक्ति मिलेंगे जिन्हें इस प्रकार का नैष्ठिक ... हो ... का ... वह भाव जो मानव

मन मे प्रवत्ति के रूप मे अवसप्तावस्था मे पडा रहता है स्थायी भाव कहलाता है
ावानुभाव, व्यभिचारी भावों के द्वारा उद्बुद्ध स्थायी ही रस कहलाता है। उदाहरणार्थ, रति एक ऐसा सार्वभौम स्थायी भाव है जो सामाजिक के मन में अनुकूल विभावादिकों के साथ सयुक्त होते ही रसत्व को प्राप्त हो जाता है। रसास्वादकाल में सामाजिक अपना-पराया सब कुछ भूलकर साधारणीकृत उसी रतिभाव में लीन हो जाता है। उसका चित्त रसाकाराकारित हो जाता है। उस रसास्वाद की सान्द्रता एवं तिक्तता अनिर्वचनीय होती है। रति तथा इसी प्रकार अन्य सात स्थायी भावों की यही विशेषता है; किन्तु तथाकथित शान्त के स्थायी शम में यह बात नहीं है। यदि शान्त के विभावादि का संयोग सफल अभिनय के द्वारा कराया भी जाय तो कौन ऐसा दर्शक होगा जिसके मन में संसार के रागद्वेप, भोग-विलास, कांचन-कामिनी से सच्ची घृणा उत्पन्न होगी ? ऐसा कौन है जो अपने मन को रागद्वेषादि भावों से शून्य पायेगा तथा विशुद्ध शान्ति का अनुभव करेगा? अभिनय की सफलता तथा विभावादिकों के सफल प्रयोग से भले ही क्षणमात्र के लिए इस प्रकार की भावना किसी एक के मन में जागृत हो जाय, किन्तु उस समय भी उसके मन में रागद्वेषादि के भाव उड़ते ही रहते हैं। इस प्रकार के भाव में स्थायित्व नहीं होता। अतः शम इत्यादि की भाँति ही मानवमन की स्थायी मूलप्रवृत्ति है, कहना असंगत है। शम जब स्थायी ही बनने योग्य नहीं तो रस कैसे बन सकता है ?

यहां यह विचारणीय है कि मन में परिस्थिति-विशेष में ऐसे भाव आ सकते है जो सांसारिकता से घृणा उत्पन्न करा दें। उदाहरणार्थ, श्मशान के दृश्य से क्षणिक ज्ञान से दर्शक प्रभावित हो सकता है किन्तु उस दृश्य के ओझल होते ही पुनः वही रागद्वेप उसे आक्रान्त कर लेते हैं। अतः विचार करने पर यह ज्ञात होता है कि शम, निर्वेद इत्यादि भाव मन में रहते अवश्य हैं, किन्तु वे केवल भाव-मात्र है जो कि हवा के हल्के झोंके के समान उड़ते रहते हैं। अतएव ये भाव मूलभूत और स्थायी नहीं हे। ये केवल व्यभिचारी भाव की कोटि में रह सकते हैं, स्थायी के रूप में नहीं। इसी आपत्ति के कारण दशरूप कावलोक ने शान्त को रस नहीं माना।

दूसरी बात यह है कि शान्तरस के काव्य नाट्य के उदाहरण भी नहीं मिलते। आनन्दवर्धन ने महाभारत में शान्त को अंगीरस स्वीकार किया है, किन्तु यह मत विवादास्पद है। वस्तुतः वीर ही महाभारत का अंगीरस है। दान, दया, धर्म एवं शूरवीर के अन्तर्गत महाभारत की समूची कथा आ जाती है। शान्त केवल भावरूप में प्रयुक्त हुआ है। यहाँ एक बात विशेष उल्लेखनीय है। शान्त के समर्थकों ने भरत के द्वारा शान्त के वर्णन न किए जाने का कारण यह भी दिया है कि भरत के सम्मुख उस समय तक शान्तरस का कोई काव्य उपलब्ध नही रहा होगा। किन्तु यदि आनन्दवर्धन पर विश्वास किया जाय तो महाभारत को शान्त का उदाहरण भरत भी मान सकते थे, किन्तु भरत ने महाभारत में शान्त नही देखा होगा नहीं तो वे शान्त का वर्णन अवश्य करते। इससे स्पष्ट है कि भरत महाभारत में शान्त नही मानते।

(२) अभिनव का यह कथन कि "क्वचिद्धर्म :" इत्यादि उपर्युक्त श्लोक में "क्वचित् शम :" कहकर भरत ने शान्त को स्वीकार किया है, उचित नहीं है। इस श्लोक में गिनाए गए धर्म, क्रीडा अर्थ तथा शम भिन्न-भिन्न रसों के सूचक नहीं हैं। इस सन्दर्भ में भरत का मन्तव्य नाट्य का परिवश एव विस्तार दिखाना है नाट्य मे धर्म अथ काम एव शम क भाव भरे पड हैं शम

कहकर भरत ने शान्त रस को माना है यह कहना उचित नहीं है धर्म अर्थ इत्यादि से यदि हम पुरुषार्थों का भी अर्थ लें तो भी यह भूलना न चाहिए कि भरत ने धर्म अर्थ एवं काम के त्रिवर्ग को ही नाट्य में प्राधान्य दिया है, क्योंकि नाट्य को उन्होंने जनसाधारण के लिए बतलाया है जिसमें सभी अस्पृश्य एवं स्त्रियां भी सम्मिलित हो सकें। इसीलिए उन्होंने इसे पंचम वेद कहा है। मोक्षसिद्धि तो चारों वेदों के अध्ययन एवं याग-कर्म से ही सम्भव थी, नाट्य निर्माण का प्रयोजन ही क्या था? अतएव नाट्य विनोद के लिए ही बनाया गया है। यहां शम केवल सचारी भाव के रूप में प्रयुक्त हुआ है।

(३) यह शंका वस्तुतः न० २ के समान ही है। नाट्य का दर्शक के साथ संवाद होना, उसका पूर्णतः रुचिकर लगना नाट्य का मुख्य कार्य है। मनुष्य का मन अत्यन्त आकर्षक एवं प्रिय कथानको मे ही रमता है। अतः वीतराग जनों के लिए शान्तपरक नाट्य अभीष्ट होगा, यह तर्क स्वयं उत्तर दे देता है। शान्तपरक नाट्य कितने व्यक्तियों को रुचिकर लगेगा ? हम देख चुके है कि सचमुच वीतराग व्यक्ति विरले ही मिलते हैं। "मोक्षेप्वथ विरागिणः" (नाट्यशास्त्र २७, ५९)" इत्यादि को उद्धृत करके अभिनवगुप्त ने शान्त पर भरत की मान्यता दिखाने का प्रयत्न जो किया है, वह भी जबरदस्ती है। यदि सचमुच कोई वीतराग साधक है तो नाट्य के माध्यम से उसे किस हद तक मोक्ष मिल सकता है ? यहाँ भरत का सीधा अर्थ है कि युवकों के लिए शृंगारिक, धन चाहने वाले को आर्थिक एवं वैराग्य भाव वाले लोगों को मोक्ष सम्बन्धी बातें नाट्य मे देखकर सन्तोष मिलता है।

(४) भरत ने नाटक में धर्म को उचित स्थान दिया है। वृद्ध एवं विद्वज्जनों को "धर्माख्यान" ही प्रिय लगते है, इसका तात्पर्य यही है कि नाट्य के अन्तर्गत धर्म, अर्थ एवं काम के प्रत्येक अंग का वर्णन होना चाहिए। इसका अर्थ यह तो नहीं कि नाट्य में धर्म का नाम लेने से मोक्ष और मोक्ष साधक शान्त रस का वर्णन परमावश्यक है। यदि इसका यही अर्थ लगाया जाय तो हास्य, बीभत्स, भयानक, करुण, अद्भुत इत्यादि से भी अर्थ या काम की सिद्धि होनी चाहिए, परन्तु ऐसा होता नहीं। "धर्माख्यान" इत्यादि का यही अर्थ है कि वृद्ध जन धार्मिक कथानको मे ही आनन्द पाते हैं। इन धार्मिक कथानकों में दान, दया, क्षमा इत्यादि के अनेक भाव भरे रहते हैं, जो केवल भावमात्र हैं और कुछ नहीं।

(५) निर्वेद, धृति, विज्ञान, श्रुति, शौचाचार इत्यादि भरत के गिनाए भाव व्यभिचारी भावों के अन्तर्गत आते हैं। शान्त का स्थायी ही जब कोई सम्भव नहीं तो ये भाव शान्त रस के पोषक कैसे सिद्ध हो सकते हैं ? शान्त के अनेक स्थायीभाव शान्त के समर्थकों ने सुझाए है।

स्थायीभाव के ऊपर इतने विचार-वैमत्य का यही कारण है कि शान्त का स्थायी सभव ही नहीं है। यह तर्क कि भरत ने शान्त को त्रैलोक्यानुकरण कहा है, शान्त की सिद्धि में कोई सहायता नहीं देता। "न तत् ज्ञानम्" इत्यादि तथा "त्रैलोक्यानुकरण" इत्यादि दोनों उक्तियों मे अतिशयोक्ति को सदा ध्यान में रखना चाहिए। इन उक्तियों का तात्पर्य मात्र यह है कि नाट्य की परिधि में त्रिभुवन के अधिकांश पदार्थ आ जाते हैं। यहाँ उपर्युक्त तथ्य न भूलना चाहिए कि भरत ने केवल सासारिक वैभव को ही नाटय म विशेष स्थान दिया है

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, शान्तविरोधी मुख्य तर्क यह है कि अज्ञान के नाश न हो सकने से मनुष्य के रागात्मक क्रियाकलाप भी नष्ट नहीं हो सकते। और शान्त रागद्वेष के पूर्णतः नष्ट होने पर ही संभव हो सकेगा। अतः जब रागात्मक कर्मों का अभाव संभव ही नहीं है, तो शान्त भी मान्य नहीं है। इस आपत्ति का उत्तर देते हुए डा० राघवन का कथन है कि शान्तविरोधी यह तर्क अनुचित है, क्योंकि पूर्ण क्रियाकलाप का अभाव तो चरम परिणति है जिसे पारिभाषिक शब्द में पर्यन्तभूमि कहा जाता है। वस्तुतः इस तरह के कर्माभाव का अभिनय असंभव है, किन्तु ऐसे तो शान्त ही क्यो, सभी रसों की पर्यन्तभूमि में यही कठिनाई खड़ी हो जायगी। शृंगार को रसत्व से हम इसलिए वंचित नहीं करते कि उसमें सम्प्रयोग का रंगमंच पर दिखाना अनुचित है। इसी प्रकार रौद्र के सम्बन्ध में वध भी नही दिखाया जा सकता। अतः डा० राघवन का कथन है कि शान्त को रस इसलिए नहीं मानते कि उसमे क्रियाकलाप (रागात्मकता) के पूर्ण अभाव जैसी असंभव बात दिखाने का प्रयत्न किया जाता है; बल्कि उसे रस इसलिए कहते हैं कि उसमें परम-सत्य तथा सच्ची शान्ति की खोज मे मानव की अदम्य भावना का प्रदर्शन होता है। अतएव शान्त रस है।

विद्वान् समालोचक के इस तर्क पर यदि ध्यान से विचार करें तो इस तर्क की दुर्बलता स्पष्ट हो जायगी। यह ठीक है कि पूर्णतः कर्माभाव एक स्थिति में प्रत्येक रस मे समान है; किन्तु यहाँ शृंगार तथा रौद्ररस के सम्बन्ध में की गयी डॉ० राघवन की शका पर ध्यान देना परमावश्यक है। वस्तुतः शृंगार को रस इसलिए नहीं कहते कि उसमे रंगमंच पर सम्प्रयोग दिखाया जा सके, बल्कि उसे रस इसलिए कहते हैं कि विभावानुभाव व्यभिचारी भावों में से किसी एक की ही उपस्थिति होने पर सामाजिक को सम्प्रयोग-जन्य आनन्दानुभव हो जाता है। इसी प्रकार रौद्र को भी, रस इसलिए नहीं कहेंगे कि उसमें वध दिखाया ही जाय, बल्कि इसलिए उसे रस कहते हैं कि वध की सूचना भी यदि दी जाय तो सामाजिक को वधजन्य सुख की अनुभूति हो जाती है। यह क्षमता है शृंगार तथा रौद्र के स्थायी भावों की कि विभावादिकों में किसी एक के संयोग होते ही रसानुभूति हो सकती है जो कि शान्त में कदापि सभव नही है। वध की सूचना देने मात्र से ही दर्शक वध को सही मान लेता है और उसे इतना आनन्द मिलता है जितना कदाचित् रंगमंच पर वध देखकर न होता। यहाँ शान्त के समर्थक यह कह सकते हैं कि शान्त में भी इसी प्रकार सूचना से ही दर्शक को शान्त की अनुभूति हो सकती है, ऐसा कहना बड़ी असंगत बात होगी। एक सच्चे वीतराग संन्यासी का अभिनय के द्वारा प्रदर्शन तब तक दर्शक के मन में शान्त को नही उत्पन्न कर सकता जब तक दर्शक को यह अनुभव न हो जाय कि वीतरागिता और अकर्मणता सच्ची है। यह भाव दर्शक की सूचना से कदापि नहीं मिल सकता।

इसके अतिरिक्त शान्त को रस न मानने का एक और मुख्य कारण है। रस चित्त के विकार का कारण होता है। इस प्रकार की मानसिक विक्रिया शान्त में संभव नही है, क्योंकि शान्त में रागात्मक भावना का पूर्णतः ह्रास रहता है। बिना रागात्मकता के विकार संभव नहीं है। इस आपत्ति को सौन्दर्य लहरी के टीकाकार लक्ष्मीधर ने भी स्वीकार किया है सौन्दय लहरी के ४१ वें श्लोक में नाटय तथा ५०वें श्लोक में (श्रव्य)

काव्य के सम्बन्ध मे नौ रसो का उल्लेख किया गया है किन्तु ५१व श्लोक मे पन केवल आठ रसों का वर्णन है। इस श्लोक की टीका में लक्ष्मीधर ने शान्त की गणना न किए जाने का कारण यह दिया है कि भरत के अनुसार रस आठ ही हैं क्योंकि, रस चित्त की विकृति के कारण होते हैं और शान्त में इस विकृति का सर्वथा अभाव रहता है। अतः कुछ लोग इसे रस नहीं मानते—"विक्रियाजनका एव रसा इति अष्टौ रसा भरतमते।"—शान्तस्य निर्विकारत्वात् न शान्तं मेनिरे रसम्" इति शान्तस्य रसत्वाभावात् अष्टावेव रसाः सङ्गृहीता ।" (पृष्ठ १५४-५, मैसूर संस्करण)।

यहाँ डॉ० राघवन का कथन है कि लक्ष्मीधर ने स्वयं शान्त को स्वीकार किया है, किन्तु लक्ष्मीधर ने उपर्युक्त वाक्य तथा शेष दो श्लोकों की टीका में भी कुछ ऐसा निश्चित निर्णय नहीं किया जिससे यह कहा जा सके कि वे शान्त के स्वयं समर्थक थे। अतः इस विषय में यह कहना कि उन्होंने शान्त को स्वीकार किया है, संदिग्ध ही है। शान्त को लक्ष्मीधर ने यदि स्वीकार किया होता तो अपनी सम्मति उन्होंने दे दी होती।

रस का वस्तुतः हृदय के भावपक्ष से सम्बद्ध रहता है। जहाँ भावना (रागात्मकता) होगी वहीं रस संभव होगा। नीति, उपदेश, शौचाचार, संन्यासपरक काव्य से कतिपय लोगों को क्षणिक सुख मिल सकता है, किन्तु वह सुख का लेश बौद्धिक स्तर पर रहने से रसत्व की कोटि तक नहीं पहुँच सकता। बौद्धिक सुख भावात्मक नहीं होता, अतः वह रस होने के सर्वथा अयोग्य है।

शान्त की मान्यता पर विचार करते समय हमें मुख्यतः दो बातों का ध्यान रखना चाहिए—(१) नाट्य का मुख्य प्रयोजन, तथा (२) नाट्य में पुरुषार्थों की सिद्धि।

(१) भरत ने एकस्वर से अनेक स्थानों पर नाट्य को विनोदजनक कहा है। नाट्य का मुख्य प्रयोजन मनोरंजन है। उन्होंने नाट्य को मनोविनोद के लिए खिलौने की तरह ही एक साधन माना है—क्रीडनीयकमिच्छामो दृश्यं श्रव्यं च यद् भवेत्"। नाट्य के इस प्रयोजन को दृष्टि में रखते हुए यदि विचार करें तो शान्त, जिसमें तृष्णाक्षयसुख तथा वीतरागिता के भाव निहित हैं, जन साधारण के लिए विनोदजनक कदापि सिद्ध नहीं हो सकता। यही रहस्य है कि भरत ने शान्त को रस के रूप में अंगीकार नहीं किया। यदि शान्त रस नाट्य के लिए अत्याज्य होता तो नाट्य के सूक्ष्मतम एक-एक अंग का सविस्तार वर्णन करने वाले व्युत्पन्न मनोवैज्ञानिक भरत को संकोच क्या था शान्त का वर्णन करने में?

(२) नाट्य में वस्तुतः धर्म, अर्थ एवं काम का त्रिवर्ग ही उपयोगी है, क्योंकि नाट्य नश्वर जगत् एवं उसके साधारण प्राणी के लिए है। मेरी सम्मति में तो मोक्ष-पुरुषार्थ को काव्यजगत् से पृथक् ही रखना चाहिए। काव्य से मोक्षसिद्धि हो सकती है, यह कथन मुझे तो इस युग में संगत नहीं लगता। भरत बड़े व्यावहारिक थे। ऋषि होते हुए भी नाट्य की सीमा को वे अच्छी तरह पहचानते थे, और इसीलिये उन्होंने नाट्य में सांसारिक सुख-सम्पदा का आधिक्य ही वर्णन करना बतलाया है।

अभिनवगुप्त महान् दार्शनिक थे। योग-साधना को दृष्टि में रखकर शान्तरस के लिए उन्होंने स्वर उठाया है नाट्य ही नहीं वस्तुत श्रव्य-काव्य मे भी मोक्ष की सिद्धि सन्दिग्ध ही है

अतः वहाँ भी शान्त के बिना कोई हानि नहीं होती। शम, निर्वेद, तथा नश्वर जगत् से घृणा के भाव मानवमन में अवश्य सभव हैं जो दान, दया, धर्म आदि वीर के उपभेदों में सम्मिलित हो सकते हैं। डॉ० राघवन की यह आपत्ति कि वीर में शान्त का अन्तर्भाव नहीं हो सकता, क्योंकि वीर (उत्साह) अहंकार से उत्पन्न होता है और शान्त अहंकार से सर्वथा रहित है, वस्तुतः असंगत है। वीर का केवल शूरवीर भेद राजसिक अहंकार से युक्त हो सकता है किन्तु दान, दया एव धर्म सदा ही सात्विक अहंकार की उपज है। अहंकार का सात्विकत्व ही वीरता का प्राण है। शान्त के प्रायः समस्त भाव वीर के इन चार भेदों में आ जाते हैं।

हिन्दी की शब्दावली[1]

डा० कैलाशचन्द्र भाटिया

किसी भी भाषा के शब्द-भंडार में ध्वन्यात्मक शब्द अपना विशिष्ट स्थान रखते है। इनमें से अनेक शब्द प्राचीन काल से चलते आ रहे हैं और नवीन प्रत्ययों के साथ बदलते भी रहते है। साधारणत: जब कभी किसी नवीन शब्द का निर्माण करना होता है तो सुलभ प्रवृत्ति यही है कि उस शब्द के ध्वनि-स्फोट के अनुकूल शब्द का निर्माण कर लिया जाय। बालक फटफट करती हुई मोटर साइकिल को स्वभावत: 'फटफटिया' कहने लगता है। इस प्रकार की शब्दावली ध्वन्यात्मक कहलाती है। संस्कृत में इस प्रवृत्ति को द्विरुक्ति कहते है। साहित्य के क्षेत्र में भी अनेक प्रसिद्ध कवियो ने अपनी भाषा को अर्थ-गर्भित बनाने के निमित्त इस प्रकार की शब्दावली का मुक्त प्रयोग किया है। पुरानी हिन्दी के आदि कवि स्वयंभू[2] से लेकर मध्यकाल के घनानन्द, सूदनादि[3] कवियों को लेते हुए आधुनिक काल में पंत, निराला आदि कवियों की भाषा में ऐसे प्रयोग भरे पड़े है। इस ओर भी अध्ययन की आवश्यकता है। आधुनिक काल में छायावादी युग में इस प्रकार की नवीन शब्दावली का प्रचुर परिमाण में निर्माण हुआ। इधर वर्त्तमान कहानीकारों की कहानियों एवं नाटककारा के नाटकों, एकांकियों एवं ध्वनि-रूपकों में वातावरण निर्माण के हेतु ऐसे ही शब्दों के प्रयोग का वाहुल्य है।

भाषा की उत्पत्ति के अनेक सिद्धान्तों में यह सिद्धान्त उल्लेखनीय है। इस संबंध मे डॉ० सक्सेना[4] का कथन है," कोयल को कुहू-कुहू करते सुना तो उसको कुहू नाम से सम्बोधित किया, बिल्ली को म्याऊँ करते सुना तो उसकी संज्ञा म्याऊँ बनाई. . . . . . . बच्चे मोटर को मोटर न कहकर पो-पों कहते हैं क्योंकि उसको हटाने के लिए मोटर पों-पों शब्द करती है।" संसार की प्रत्येक भाषा में इस प्रकार की पर्याप्त शब्दावली है यद्यपि कुल शब्दावली की तुलना में उसका

---

१. भारतीय हिन्दी परिषद् के सत्रहवें वार्षिक अधिवेशन में पठित निबन्ध।

२. पावस-वर्णन---तड़ि तड़-तड़इ जड़इ घणु गज्जइ।

झड़ - झड़ - झड़ -झडंतु पहरंतउ।

युद्ध-वर्णन---हण-हण-हणकारु महारउद्दु। छण-छण-छणंतु गुण पिंद्द सद्दु।

कर-कर-करंतु कोयंड पवरु। थर-थर-थरंतु णाराय णियरु॥

३. घड़घग्घरं घड़घग्घरं झड़झज्झरं झड़झज्झरं।

अररररं अररररं सररररं सररररं॥

४ डॉ० बाबूराम सक्सेना—सामान्य भाषा-विज्ञान पंचम सं० पृष्ठ १६ १७

अनुपात बहुत कम है। अनेक चिड़ियों के नाम तथा वस्तुओं की संज्ञा इस आधार पर पड़ जाती है।[1]

भारतीय भाषाओं मे इस प्रकार की शब्दावली का संकलन होना चाहिए। बंगला में इस प्रकार का उल्लेखनीय कार्य कवीन्द्र रवीन्द्र[2] द्वारा किया गया। इस दिशा में कुछ कार्य असमिया[3] में भी हुआ है। अन्य भाषाओं में यह कार्य अपेक्षित है।

यहाँ पर हिन्दी की ध्वन्यात्मक शब्दावली का मैंने अनेक क्षेत्रों से संकलन किया है। संकलन की अपेक्षा प्रवृत्तिगत विश्लेषण पर मैंने अधिक बल दिया है।

शब्दावली—

कच-कच—बरसात में पानी से भीगी हुई भूमि, बालों में झगड़ा
कचकचाना—दाँत पीसना, धँसने या चुभने का शब्द करना
कचपच—गिचपिच
कचर-मचर—बच्चों की भीड़-भाड़ और शोरगुल
कचर-पचर—बच्चों की भीड़-भाड़ और शोरगुल
कचर-कचर—कच्चे फल या साग को खाने में उत्पन्न ध्वनि
कट-कट—लड़ाई झगड़ा, किसी भी वस्तु की सामान्य ध्वनि
कटाकट—उक्त अर्थ मे निरन्तरता का भाव
कड़-कड़—किसी कड़ी वस्तु के टूटने का शब्द,
        टीन अथवा छत पर की ध्वनि
कड़का—बड़ी आवाज, गरज
कप-कप—कम्पन से उत्पन्न ध्वनि
कर-कर—कड़-कड़ का ही एक रूप
कल-कल—कोई अस्पष्ट ध्वनि
कर-मर—किसी पुर्जे की ध्वनि
कल-बल—कोई अस्पष्ट ध्वनि
किच-किच—व्यर्थ विवाद
किच-किचा—दाँत पीसना
किच-पिच—क्रमरहित, अस्पष्ट, बरसात में जमीन पर चलने की ध्वनि
किचर-पिचर—शोरगुल की ध्वनि, भीड़-भाड़ की ध्वनि
किर-किर—दाँतों के मध्य रेत आदि के आ जाने से उत्पन्न ध्वनि
किट-किट—घड़ी के चलने की ध्वनि
किड़-किड़—विरोध प्रकट करने की ध्वनि

---

१. ब्लूमफ़ील्ड, एल०—लैंग्वेज, सन् १९५६; पृष्ठ १५६।
२ रवीन्द्रनाथ टैगोर रवीन्द्र वचनावली द्वादश खंड, पृष्ठ ३७४ ३७६।
३ उपेन्द्र गोस्वामी इण्डियन पृ० १६१ १६५

कुच-कुच—पक्षी विशेष की ध्वनि धीरे-धीरे बोलना
कुड़-कुड़—अव्यक्त शब्द कुढ़ते समय
कुर-कुर—किसी खरी वस्तु के दबकर छूट जाने का शब्द
कुल-कुल—पेट की आँतड़ियों की ध्वनि
कुल-बुल—छोटे-छोटे कीड़ों की गति का शब्द
कुह-कुह—कोयल की ध्वनि
कूक—महीन व सुरीली ध्वनि, घड़ी में चाबी देने की ध्वनि
कुँ-कूँ—जानवर की बोली
क्याँ-क्याँ—जानवर-विशेष की बोली
खच-खच—धीमी गति से चलने की ध्वनि
खट-खट—किसी भी पदार्थ किवाड़ादि के खटखटाने की ध्वनि
खट-पट—खड़ाऊँ की ध्वनि
खद-बद—किसी पदार्थ के उबलते समय का शब्द
खर-भर—हलचल की ध्वनि
खल-बल—हलचल की ध्वनि
खटर-खटर—पुर्जों की धीमी गति की ध्वनि
खटर-पटर—वस्तुओं के उठाने-धरने की ध्वनि
खड़-खड़—पत्तों की ध्वनि
खड़-भड़—खड़-बड़, उलट-फेर की ध्वनि
खन-खन—रुपयों की ध्वनि
खर-खर—ऐसे पदार्थ की ध्वनि जो चिकना नहीं है
खिल-खिल—हँसने की ध्वनि
खिस-खिस—दाँतों की किरकिराहट
खुटुर-खुटुर—धीमी गति की ध्वनि
खुर-खुर—गले में कफ़ रुकने का घर-घर शब्द
खुस-खुस—धीरे-धीरे बोलना
खुसुर-खुसुर—बहुत धीमी गति से बोलने की ध्वनि
खाँऊ-खाँऊ—डरावनी ध्वनि
खों-खों—खाँसी की ध्वनि, बच्चों को डराने की ध्वनि
गजर—तीव्र ध्वनि
गच-पच—किसी भीगे हुए स्थान पर चलने की ध्वनि
गड़-गड़—किसी वस्तु के अन्दर की ध्वनि
गट-पट—अस्पष्ट ध्वनि को व्यक्त करने की ध्वनि
गट-गट—किसी तरल पदार्थ को पीने की ध्वनि
गड़-गड़ किसी वस्तु के अन्दर की ध्वनि

गप-गप—शीघ्रता से खाने की ध्वनि
गिच-पिच—घिच-पिच, विशेष भीड की ध्वनि
गिट-पिट—किसी विदेशी भाषा की ध्वनियाँ
गुड़-गुड़—पेट की आवाज, वन्द पानी में नली आदि के द्वारा वायु प्रवेश होने का शब्द
गुन-गुन—कम गरम पानी को व्यक्त करने का शब्द
गुप-चुप—चुपचाप धीरे से काम करने की ध्वनि
घर-घर—मशीन के पुर्जों की ध्वनि
घरर-घरर—मशीनों की ध्वनि
घड़-घड—किसी भी स्थल की सामान्य ध्वनि, वादल का शब्द
घन-घन—घंटे की ध्वनि
घम-घम—कोई गम्भीर ध्वनि
घस-घस—धीमी ध्वनि
घुर-घुर—सूअर की ध्वनि
घेंच-पेंच—व्यर्थ की बातों की ध्वनि
चक-चक—आपत्तिसूचक विशेष-ध्वनि
चट-चट—लकडी के जलने की आवाज[१]
चड़-चड़—सूखी लकड़ी के टटने पर जलने का शब्द
चर-चर—किसी खाट या शरीर का तनाव से टूटना—चरमर वोलना
चपड़-चपड़—कुत्तों की जीभ से होने वाला शब्द, व्यर्थ में वोलने का शब्द
चरर-मरर—गाड़ी के चलने की ध्वनि
चपर-चपर—चबर-चबर पशुओं के जल पीने की ध्वनि
चटाचट—एक के बाद एक थप्पड़ पड़ने की ध्वनि
चप-चप—पानी की ध्वनि
चह-चह—चिड़ियों की ध्वनि
चिक-चिक—आपत्तिसूचक ध्वनि
चीं-चीं—चीखने की ध्वनि
चिड़-चिड़—तेल और पानी की मिलावट से उत्पन्न ध्वनि
चिप-चिप—लसदार वस्तु के छूने मात्र से चिपकने का शब्द
चिर-परे, चरपरे—विशेष मसालेदार होने के कारण जिह्वा द्वारा उत्पन्न ध्वनि
चटपटे—मसालेदार हैं, इस भाव को व्यक्त करने का शब्द
चिल्ल-पों—हल्ले की ध्वनि
चाँय-चाँय—बच्चों, चिड़िया आदि की ध्वनि

---

१ ऐसे शब्दों के लिए द्रष्टव्य—डा० उदयनारायण तिवारी 'भाषा की परिभाषा एव स्वरूप' सम्मेलन पत्रिका भाग ४६ सख्या १ पृष्ठ ४१

चें-चें—बच्चों के शोरगुल की ध्वनि
चिन-चिनी—शरीर में मराड़ियों की सुरसुराहट
छक-छक—बच्चों द्वारा रेल चलाने की ध्वनि
छन-छन—गरम तवे पर पानी गिरने से उत्पन्न ध्वनि
छप-छप—पानी की ध्वनि
छम-छम—आभूषणों में नूपुरों आदि की ध्वनि
छल-छल—पानी की ध्वनि
छुन-छुन—तवे पर पानी गिरने से उत्पन्न ध्वनि
छुनन-मुनन—बच्चों अथवा नई बहू के पैरों के आभूषण की ध्वनि
छिक-छिक—बच्चों की बनावटी रेलगाड़ी के चलने की ध्वनि
छुक-छुक—बच्चों की बनावटी रेलगाड़ी के चलने की ध्वनि
जग-मग—प्रकाश की चमचमाहट
जगर-मगर—प्रकाश की चमचमाहट
झक-झक—एक-दूसरे के प्रति विरोधसूचक ध्वनि
झट-पट—शीघ्रता से किये गये कार्य की ध्वनि
झन-झन—शरीर के किसी भाग में विजली के प्रवेश होने के समान ध्वनि
झम-झम—घुंघरू की विशेष प्रकार की ध्वनि
झर-झर—धीरे-धीरे पानी गिरने की ध्वनि
झुन-झुन—नूपुरादि की ध्वनि
झों-झों—विरोधमूलक आवेश में ध्वनि—झि-झिक का ही विकराल रूप
टक-टक—धीरे-धीरे पीटने की ध्वनि
टच-टच—आग की लपट से उत्पन्न ध्वनि
टम-टम—घंटी की ध्वनि
टन-टन—कालेज की घंटे की ध्वनि
टप-टप—धीरे-धीरे बरसात की बूंदों के गिरने की ध्वनि
टर-टर—बकवाद करना
टिक-टिक—घड़ी की ध्वनि, घोड़ा हाँकने की ध्वनि
टिप-टिप—टाइपराइटर की ध्वनि
टुन-टुन—गाड़ी की घंटी की ध्वनि
टें-टें—पक्षी की बोली, व्यर्थ बकवाद
ठक-ठक—झगड़ा होने की ध्वनि
ठन-ठन—धातुओं के बजने का शब्द
ठांय-ठांय—बन्दूक के चलने की ध्वनि
ठुन-ठुन—बच्चों की मिनमिनाहट
की ध्वनि

डिम डिम—डमरू की ध्वनि

डुग-डुग—डुगडुगी की ध्वनि

ढप-ढप—नगाड़े, ढोलादि की ध्वनि

ढप-ढब—नगाड़े ढोल आदि की ध्वनि

ढिलमिल—अस्थिरतासूचक ध्वनि

तक-तक—घोड़ों के तिक-तिकाने की ध्वनि

तड़-तड़, तर-तर—ताशे की ध्वनि

ताबड़तोड़—निरन्तर चोट पड़ने की ध्वनि

तड़ाक-फड़ाक—शीघ्रता से किये गये कार्य के लिये

तिक-तिक—घोड़ा हांकने की ध्वनि

तुन-तुन—सारंगी की ध्वनि

थप-थप—घोड़ों के शरीर पर हाथ फेरने की ध्वनि

थर-थर—कम्पन की ध्वनि

दग-दग—चमचमाहट सूचक ध्वनि

दम-दम—एक अव्यक्त ध्वनि

दन-दन—गोलियों के चलने की ध्वनि

धक-धक—हृदय की धड़कन की ध्वनि

धड़-धड़, धर-धर—सीढ़ी से उतरने या चढ़ने की ध्वनि

धम-धम—छत पर कूदने की ध्वनि

धड़ाम—एकदम गिरने से उत्पन्न ध्वनि

धाँय-धाँय—आग की लपटों या बन्दूक के चलने की ध्वनि

धुकर-पुकर—हृदय की धड़कन

धूमधाम—विशेष शोर के साथ

धूँ-धूँ—आग की लपटों की ध्वनि

पट-पट—हल्की वस्तु के गिरने की बारबार आवृत्ति

पड़-पड़ —गिरने की ध्वनि

पन-पन—बाण चलने से उत्पन्न ध्वनि

पिट-पिट—कोई सी निरर्थक ध्वनि

पो-पों—मोटर के बिगुल की ध्वनि

फट-फट—मोटर के लिए प्रयुक्त विशेष मोटर साइकिल की ध्वनि

फटाफट—शीघ्रता से किये गये कार्य के द्योतन के लिए

फर-फर—कपड़े उड़ने की ध्वनि

फड़-फड़—चिड़ियों के पंखों की ध्वनि

फुर-फुर—परों की ध्वनि

फुस-फुस से की ध्वनि

फुद-फुद—किसी पतली हल्की वस्तु के गिरने मात्र की ध्वनि
बक-बक—बकर-बकर—जल्दी-जल्दी बोलने की ध्वनि
बम-बम—साधुओं के बोलने की ध्वनि (शिव)
बड़-बड़—ऊटपटांग बोलने की ध्वनि
बल-बल—निरर्थक ध्वनि
बों-बों—जानवर विशेष की ध्वनि
भड़-भड़—कोई भी अज्ञात ध्वनि, आग के जोर से जलने की ध्वनि
भन-भन—मच्छर, मक्खी आदि की ध्वनि
भांय-भांय—निर्जन स्थान पर स्वतः उत्पन्न होने वाली सन्नाटे की डरावनी ध्वनि
भों-भों—कुत्ते की ध्वनि
भर-भर—बायों के समूह की ध्वनि
मिन-मिन—बच्चों की अस्पष्ट ध्वनि
म्याऊँ-म्याऊँ—बिल्ली की ध्वनि
में-में—बकरी की आवाज
री-री—बच्चों के रोने की ध्वनि।
रिम-झिम—धीमी गति से वर्षा की बूँदों के गिरने की ध्वनि
रुन-झुन—नूपुर आदि के बजने की ध्वनि
रुनक-झुनक—नूपुर आदि के बजने की ध्वनि
रें-रें—बच्चों के रोने का शब्द
लट-पट—अस्पष्ट या अक्रम शब्द
लप-लप—जीभ, बेंत आदि का शब्द
सर-सर—वायु की ध्वनि
सन-सन—वायु की ध्वनि
सड़-सड़—कोड़े की ध्वनि
सर्राटा—हवा के जोर से चलने पर होने वाला शब्द
सप-सप—जिह्वा की ध्वनि
सुड़-सुड़—नासिका की ध्वनि
सांय-सांय—वायु की ध्वनि
हटर-हटर—पुर्जों की धीमी गति से चलने की ध्वनि
हड़-बड़—शीघ्रता से कार्य करने के लिए (बुरे अर्थ में)
हड़र-बड़र—शीघ्रता से कार्य करने के किए (बुरे अर्थ में)
हबर-हबर, हबर-दबर—शीघ्रता से कार्य करने के लिए (बुरे अर्थ में)
हा हा हा हा—हँसने का शब्द
हाय-हाय—शोक-सूचक ध्वनि
की ध्वनि

हें-हें—गिड़गिड़ाने की ध्वनि

उक्त शब्दावली को ध्यान से देखने से यह प्रतीत होता है कि इन समस्त शब्दों का निर्माण दो विधि से विशेष हुआ है:—

१. किसी भी ध्वनिमूलक शब्द को लेकर उसको दुबारा ले आना जिसको संस्कृत में द्विरुक्ति कहते हैं:—

खट-खट

पिट-पिट

बक-बक

२. किसी भी ध्वनिमूलक शब्द को दुबारा हूबहू न लाकर आदि स्थिति में प-वर्ग में किसी ध्वनि के साथ शेष भाग की पुनः आवृत्ति:—

धुकर-पुकर

कचर-पचर

खटर-पटर

इसी शब्दावली को विभिन्न प्रत्ययों की सहायता से बढ़ाया भी जा सकता है। कुछ विशिष्ट प्रत्ययों का उल्लेख यहाँ आवश्यक है।

१ — आहट—ध्वनि-सूचक शब्द बनाने के लिए—
घर-घर+आहट =घरघराहट
गड़-गड़+आहट=गड़गड़ाहट

२ — ना क्रियारूप बनाने के लिए[1] :
किलकिल+ना=किलकिलाना मूल में '-आ' आजाता है
किरकिर+ना=किरकिराना
कड़-कड़+ना=कड़कड़ाना
किटकिट+ना=किटकिटाना

३ — ई भाववाचक रूप बनाने के लिए—
किरकिर+ई=किरकिरी
कुरकुर+ई=कुरकुरी
खलबल+ई=खलबली

४ — का प्रत्यय भाववाचक रूप बनाने के लिए :
धम+का=धमाका मूल में -आ-का योग
पट+का=पटाका
धड़+का=धडाका

---

१. प्राचीन ग्रन्थों में भी इस प्रकार की क्रियायें बनायी गई हैं, जैसे अंझणक्कइ—-प्राकृत २ १८५

५ आती विशेषण बनाने के लिए

कटकट+आती=कटकटाती सर्दी—भीषण सर्दी

सरसर+आती=सरसराती कार—तेज गति से आती हुई कार

फटफट+आती=फटफटाती चिड़िया—उड़ती हुई चिड़िया

६. —कन =भाववाचक के लिए—

फट+कन=फटकन

धड़+कन=धड़कन

चट+कन=चटकन

खट+कन=खटकन

फड़+कन=फड़कन

७. —वा =किसी विशेष अर्थ को व्यक्त करने के लिए—

कुचकुच+वा =कुचकुचवा—एक पक्षी विशेष

८. —आ विशेषण बनाने के लिए— .

मिनमिन+आ=मिनमिना बच्चा—मिनमिन करनेवाला बच्चा

झुनझुन+आ=झुनझुना, झुनझुन करनेवाला खिलौना विशेष

९. —इया भाववाचक बनाने के लिए—

खटपटिया—खटपट करने वाली खड़ाऊँ

फटफटिया—फटफट करने वाली मोटर साइकिल

बड़बड़िया—बड़बड़ करने वाला बकवादी व्यक्ति

हड़बड़िया—उतावला व्यक्ति

१०. —ई का योग विशेष पदार्थ का भी द्योतन करता है—

गुड़गुड़ी – हुक्का

डुगडुगी – एक वाद्य

तुनतुनी – सारंगी

अन्तर्भुक्त प्रत्यय

इन शब्दों का अध्ययन करते समय मुझे अन्तर्भुक्त प्रत्यय का प्रयोग भी मिला है[1]।

–आ– =निरन्तरता का भाव प्रकट करने के लिए यह प्रथम शब्द के द्वितीय

---

१. मिलाइए :—मिर्जा खां ने 'ब्रजभाषा' पुस्तक में इसकी ओर निर्देश किया है, पृष्ठ ३८ (अ) पर मिस्ल चलाचल—यानी रवारव—ई अलिफ़दर फ़ारसी नीज़ मुस्तामिलस्त, जिसका अनुवाद जियाउद्दीन महोदय ने इस प्रकार किया है :

The Particles and Syllables that occuring in the *middle*, in the beginning and at the end of nouns produce different meanings

व्यंजन मे लगा दिया जाता है

खट-खट=खट्+आ+खट्=खटाखट

पट-पट=पट्+आ+पट्=पटापट

चट-चट=चट्+आ+चट्=चटाचट

टप-टप=टप्+आ+टप्=टपाटप

गट-गट=गट्+आ+गट्=गटागट

यह एक नवीन प्रवृत्ति है। हिन्दी मे सामान्यतः ऐसे प्रत्ययों का प्रयोग नहीं होता पर इन शब्दों में एक नवीन भाव प्रकट करने के लिए हुआ है।

A alif, in the middle of nouns, gives a sense of repetition and recurrence, eg. catacal, ie. all haste, running. This ā is used in Persian too Mīrzā Khān A Gr of Braj Bhakha. tiniketan, पृष्ठ ४३

बुन्देलखंड में चंदसखी के भजन और लोक-गीत

श्री शालिग्राम गुप्त

हिन्दी साहित्यकारों में तुलसी, मीरा, सूर, और कबीर की जितनी प्रसिद्धि है, लोकगायकों मे चंदसखी का नाम भी उतना ही विख्यात है। उत्तर भारत के विशाल भूभाग में चंदसखी की रचनायें जितनी लोकप्रिय हैं उतनी शायद ही किसी लोक कवि की हों। पश्चिमी उत्तरप्रदेश, पूर्वी राजस्थान, और उत्तर पश्चिमी मध्यप्रदेश के जन-मानस में विशेषकर स्त्री समुदाय में, उन्हीं की बोलियों में जो भजन और लोक-गीत गाये जाते हैं, उनकी अंतिम पंक्तियों में प्राय 'चंदसखी भज बाल कृष्ण छबि' की शब्दावली होती है।

चंदसखी के नाम से प्रसिद्ध अधिकांश रचनायें भजन और लोक-गीत हैं। इनके अतिरिक्त उनके कुछ पद भी प्रसिद्ध हैं जो कीर्तन-मंडली, संगीत-समाज और मंदिरों में गाये जाते रहे हैं और आज भी यह क्रम किसी न किसी रूप में जारी है। इस प्रकार उनके काव्य का मूल्यांकन उनकी स्फुट रचनाओं के आधार पर ही किया जा सकता है जो लाखों नर-नारियों की जिह्वा पर बसी हुई है। इन रचनाओं में वह भक्त कवि और लोक गायक या लोक गीतकार के दो रूपों मे प्रकट होते हैं जिनमें प्रादेशिक वातावरण के अनुसार संयोग-वियोग, अनुराग-विराग, एवं गार्हस्थ्य-जीवन के विविध प्रसंगों की व्यंजना हुई है।

इस प्रकार की प्राप्त रचनाओं में ऐसे अनेक गीत और भजन हैं जो थोड़े हेर-फेर मे कई प्रदेशों में उन्हीं की बोलियों में प्रचलित हैं। साथ ही उनके अनेक पद विशेषकर महाकवि सूरदास और परमानन्द दास के पदों से प्रभावित भी दिखाई पड़ते हैं। इसका मूल कारण सम्भवत यह है कि राधावल्लभ-सम्प्रदाय में दीक्षित होने के पश्चात् चंदसखी ने भी सम्प्रदाय के अन्य उत्साही भक्त जनों की भाँति सम्प्रदाय के प्रचारार्थ भक्तों की मंडली सहित देशाटन किया। इस सम्बन्ध में वे ब्रज के अतिरिक्त राजस्थान, बुन्देलखंड और मालवा आदि विविध राज्यों मे गयीं और वहाँ की जनता में अपने मत के प्रचार के लिये उन्होंने अपने एवं अपने पूर्ववर्ती कृष्ण भक्तों के पदों को गा-गाकर प्रचारित किया जो उक्त राज्यों में प्रचलित होने के साथ-साथ आज उन्हीं की छाप हमें प्राप्त होते हैं।

उदाहरण के लिये बुन्देलखंड में प्रचलित चंदसखी के नाम से निम्नलिखित दोनों कार्तिक गीत :--

(i) आजाऊँगी बड़े भोर दहीरा लैकें, और

(ii) भई न बिरज की मोर सखीरी, मैं तो भई न बिरज की मोर। क्रमशः परमानद दास के पद---

1 दहि लै आऊगी उठि भोर   सागर पद १९७

(ग) बृन्दावन क्यों न भए हम मोर परमानन्द सागर पद ७६६) से स्पष्ट प्रभावित प्रतीत होते हैं।

सम्भवत: १८वी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ओड़छा में ही जन्म लेने और वहीं अपने नश्वर शरीर को त्यागने के कारण ब्रज मंडल और राजस्थान की भाँति चंदसखी के भजन और लोक-गीत बुन्देलखंड में भी इतने अधिक लोक प्रिय हैं कि वहाँ प्राय: प्रत्येक सुअवसर पर इन्हें गाया और सुना जाता है। वहाँ की स्त्रियाँ अपने गृह-कार्यों को करती हुई उनके गीतों को तो गुनगुनाया ही करती हैं साथ ही धार्मिक प्रवृत्ति की कही जाने वाली वहाँ की नारियाँ विशेषकर कार्तिक-स्नान के अवसर पर कृत्तिका अस्त होने से पूर्व अरुणोदय काल में-किसी पनघट या जलाशय को स्नानार्थ आते-जाते समय सामूहिक रूप में चंदसखी के राधाकृष्ण-लीला सम्बन्धी गीतों को बड़े मधुर स्वरो मे गाया करती हैं।

जहाँ तक चंदसखी की रचनाओं का पृथक् रूप से पुस्तकों एवं पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए साहित्य का सम्बन्ध है, वे अधिकतर ऐसी ही रचनायें हैं जो राजस्थान में प्रचलित हैं। हाँ, श्री प्रभुदयाल जी मीतल ने राजस्थानी के अतिरिक्त ब्रज, मालवी और निमाड़ी क्षेत्रों से प्राप्त गीतों का एक नवीन एव सुन्दर संकलन 'चंदसखी के भजन और लोक-गीत' नाम से प्रस्तुत करने का अभिनंदनीय प्रयास किया है लेकिन बुन्देली क्षेत्र से प्राप्त होने वाले चंदसखी के भजन और लोक-गीतों को संग्रह कर प्रकाशित कराने की अभी तक कोई चेष्टा नहीं हुई है। 'ब्रज और बुन्देली लोकगीतों में कृष्ण कथा' विषय पर लोकगीतों का संकलन कार्य करते हुए बुन्देलखड से जो चंदसखी के अनेक गीत और भजन प्राप्त हुए थे, वे नीचे दिए जा रहे हैं:—

(१) अरी ऐरी एक दिन पूने के रोजई मांगे कृष्ण चन्द्र।
बहुतौ मोहन रोबें करें बड़े फरफंद। अरी०
माय जसोदा परिछित हो गई दौड़ी बाबा नंद। अरी०
सोने के थारों जल भर ल्याई जौ ले बेटा चन्द्र।
चंदसखी भज बालकृष्ण छबि रोबो होगव बंद। अरी०

(२) ठाँड़ी तौ रहियो राधा प्यारी, तुमने गेंद चुराई।
राधा ठाँड़ी चंदा ठाँड़ी, ललिता गेंद चुराई।
काहे की तोरी बनी गेंदिया, काहे तार गसाई।
सोने की मोरी बनी गेंदिया, रुपे तार गसाई।
जो मोरे अचरा गेंद न कढ़ है, दे हौ गेंद सवाई।
वाली गेंद गिरी जमुना में, कूद परे जदुराई।
निकारी गेंद पार पै धर दई, खेल रहे रघुराई।
चंदसखी भज बाल कृष्ण छबि, जसुदा गाय सुनाई।

(३) धरे हरि रूप मनिहारी के।
कोन नगर की सुगर कचेरन, कहां है मायके प्यारी के।
मथरा नगर की सुगर कचेरन बरसाने मायके प्यारी के

हर बास की दोरिया जे में लाख नई चरिया र
ऊँचे अटा से राधा बुलावें, इतें ल्याव लाख नई चरिया रे।
कर मसकें पिहरावें चुरिया, निरख रचे रूप बृजनारी के।
चंद्रसखी भज बाल कृष्ण छवि, पकर लय छोड गुलसारी के।

(४) देखौ सखी ब्रज बनी है पहारा।
नै लख धेनु नंद बाबा को, गिर गोवरधन नखत पहारा।
आस पास फूलन की वर्षा, सो बीच भरे अलि समुद्र दहारा।
इत मथुरा उत गोकुल नगरी, सो बीचहि मिल गए कृष्ण कन्हारा
चंदसखी भज बाल कृष्ण छवि, सो प्रभु चरणन कौ पड़ौ री अधा

(५) आ जाऊँगी बड़े भोर दहीरा लेकें, आ जाऊँगी बड़े भोर।
नैं मानों मटकी धर राखों, सबरे विरज को मोल।
नैं मानों कुड़री धर राखो, मुतियाँ जड़े हैं किड़ोर। आजाऊँगी॰
नै मानो चुनरी धर राखो, लिखे हैं पपीरा मोर।
नै मानों गहनें धर राखो, बाजूबंद झूमल। आजाऊँगी॰
नै मानो मोई खों बिलमाले, जोड़ी बनत अमोल।
चंदसखी रस बस भई राधा, छलिया जुगल किशोर। आजाऊँ

(६) लागी तुमसे आरी किसन मुरारी।
लागे हैं नैन जार से उरझे, सुरझत नइयाँ जतन कै हारी।
जब से मै देखी अरी सामली सुरतिया, मोरे हिरदै से टरत नइय
चंदसखी भज बालकृष्ण छवि, जीते मुरारी मैं हारी मुरारी।

(७) करूँ राधे जी के संग, ऊधौ नचत कन्हैया गोपिन में।
ताथा थेई नचत ग्वालिनी, संग नचै गोविन्द। ऊधौ॰
ढप बाजै मिरदंग खंजड़ी, मन मोहन मोचंग।
बेद पढ़न्ते ब्रह्मा आये, इन्द्रासन से इन्द्र। ऊधौ॰
छत्तिस कुरी छतीसऊ देवता, संग राजा हरिचंद।
चंदसखी भज बालकृष्ण छवि, उठे छत्तीसउ रंग। ऊधौ॰

(८) आजा कुंज विहारी हो, कुंजन में हमारे।
जमुना किनारे स्याम बंसी बजावे, ओढ़े कमरिया कारी हो।
जमुना के तट स्याम गौवें चरावें, संग में ग्वाल लिये भारी हो।
जब हम जावें पनियाँ भरन को, छेड़ैं डगर हमारी हो।
जब हम जावें दधि बेचन कों, मांगत दान मुरारी हो।
जब हम जावें जमुना नहावे, लै गै चीर मुरारी हो।
चंदसखी भज बालकृष्ण छवि, चरनन जाऊँ बलिहारी हो।

(९) भई न बिरज की मोर सखीरी मैं तो, भई न विरज की मोर।
काँ हाँ रहती काहा चुनती काना करती किलोर

मथरा रहती विन्द्राबन चुनती, गोकल करती किलोर।
उड़ उड़ पख गिरें धरती में, बीने जुगल किशोर।
उन पंखों कौ मुकट बनाओ, बाँधे नंद किशोर।
चदसखी भज बालकृष्ण छबि, छलिया कृष्ण किशोर।

(१०) तनक हरि भजलौ आली मानौं कही हमारी।
देवकी के घर हरि जनम लियौ है, खेले नंद दुआरिन।
कंसासुर मारे, बकासुर मारे, कुब्री की गति तारी।
माई यशोदा चढ़ी अटारी, टेरै कृष्ण मुरारी।
चदसखी भज बालकृष्ण छवि, चरनन जाऊँ बलिहारी।

(११) तुलसा को व्याहन आये श्री घनस्याम।
बाजे मधुर मधुर धुनि बाजे, अरे हां रे नारद नंगे पांव जो नाचे।
इंदर कोटि बराती आये, अर हां रे दूलह श्री घनस्याम।
चंदसखी भज बालकृष्ण छबि, हरि चरनन को गुलाम।

(१२) जै बोलो जसोदा जी के नंदन की।
मोर मुकुट मकराकृत कुंडल, माथे टिवकिया चंदन की।
वन बन स्याम गौवें चरावें, हाथ लकुटिया चंदन की।
बृन्दावन हरि रहस रचावें, बन बन शोभा कुँजन की।
चंदसखी भज बालकृष्ण छबि, चरन गहौ रघुनंदन की।

चंदसखी के उपर्युक्त गीतों में माधुर्य भावना प्रधान है। याचना की अपेक्षा अनुराग का आधिक्य है। इन गीतों में मौलिक कल्पनाओं का प्रायः अभाव होते हुये संगीतात्मकता की नवीनता है। यद्यपि स्वतंत्र रूप से प्रकृति वर्णन तो इनमें नहीं है किन्तु उद्दीपन रूप में किन्हीं गीतों में उसके प्रयोग का अभाव भी नहीं है। इस प्रकार बुन्देलखंड में प्रचलित चंदसखी के भजन और लोक-गीत, अलंकारों, छंदों तथा काव्य के अन्य कृत्रिम परिधानों से मुक्त लोक की स्वच्छंद भावाभिव्यक्ति के परिणाम हैं।

चंदसखी ने किसी ग्रंथ की रचना नहीं की थी। श्री किशोरीशरण 'अलि' ने उनकी एक पुस्तक 'ज्ञान चौवनी' का उल्लेख किया है, किन्तु खोज करने पर (श्री प्रभुदयाल मीतल के अनुसार) उसका नाम 'ज्ञान चौगुणी' ज्ञात होता है जो उनकी प्रामाणिक कृति भी सिद्ध नहीं होती। इस प्रकार उनके काव्य का मूल्यांकन उनकी लोक प्रचलित स्फुट रचनाओं के आधार पर ही किया जा सकता है जिनमें वह भक्त कवि और लोक गायक के दो भिन्न रूपों में प्रकट होते हैं।

भक्त कवि के रूप में रचे उनके पद ब्रज के अन्य कृष्ण भक्त कवियों की शैली के ही हैं जो उनके राधावल्लभ-सम्प्रदाय के अनुयायी होने के कारण उक्त सम्प्रदाय की भक्ति भावना के अनुकूल ही रचित हुए हैं। पुनः लोक गायक के रूप में उनके नाम से प्रचलित भजन और लोक-गीतों में प्रादेशिक वातावरण के अनुसार संयोग-वियोग, हर्ष विषाद, अनुराग-विराग, अमर्यादित प्रेम और गार्हस्थिक जीवन के विविध पक्षों का चित्रण हुआ है। उनकी भाषा सरल है, भाव बोध गम्य है, और रचना शैली काव्य-नियमा के बधनों से मुक्त है उनमे लोक-नारी के हृदय के सहज

भावो की स्वाभाविक अभिव्यक्ति हुई है इस प्रकार चदसखी की दोनो प्रकार की रचनाओ मे ही इतना अतर है कि उन्ह सहसा एक ही कवि की रचना मानने मे सकोच होता है जहाँ पद-साहित्य की भाषा शुद्ध ब्रज भाषा है, वहीं उनके लोक-काव्य की भाषा ब्रज, बुन्देली या कोई क्षेत्रीय बोली है। फिर उनका पद-साहित्य प्राय: राधावल्लभ सम्प्रदाय की भक्ति भावना से ओत-प्रोत है, तो लोक काव्य इस बंधन से सामान्यत: मुक्त। यहाँ तक कि उनकी अनेक रचनायें तो राधा वल्लभ सम्प्रदाय की मान्यता के विपरीत भी दिखायी पड़ती हैं। इस प्रकार एक ओर—जहाँ उनके पद साहित्य की अधिकांश रचना प्रामाणिक कही जा सकती है, वही दूसरी ओर उनके नाम से लोक में प्रचलित लोक-गीत और भजन की कोटि मे आने वाली रचनायें प्राय: अप्रामाणिक भी कही जा सकती हैं जो विभिन्न प्रदेशों के नर-नारियों द्वारा सम्भवत: समय-समय पर रच ली गई होंगी।

प्राचीन भारत में नगरों का आर्थिक जीवन तथा संगठन

डा० उदयनारायण राय

व्यवसाय—भारतीय नगर व्यवसाय के केन्द्र-बिन्दु थे। अनुकूल परिस्थितियो मे पडने के कारण उच्च व्यावसायिक संवर्धन तथा औद्योगिक केन्द्रीकरण ग्राम की अपेक्षा नगरों में ही संपन्न हुआ। यही कारण है कि एक ही नगर में विभिन्न प्रकार के व्यावसायिक बहुसंख्या में रहते थे। इन व्यावसायिकों के नामोल्लेख कतिपय प्राचीन ग्रंथों में मिलते है। उदाहरणार्थ, रामायण में अयोध्या के प्रमुख व्यावसायिको की एक तालिका मिलती है, जो इस प्रकार है :— (१) सुनार (सुवर्णकाराः), (२) जौहरी (मणिकाराः), (३) कपड़े बुनने वाले (सूत्रकर्मविशेषज्ञाः), (४) कुम्हार (कुंभकाराः), (५) हथियार बनाने वाले (शस्त्रोपजीविनः), (६) मोर की पूंछ से पंखा बनाने वाले (मायूरकाः), (७) आराकस (क्राकचिकाः), (८) मोतियों में छेद बनाने वाले (वेधकाः), (९) रंगसाज (रोचकाः), (१०) हाथी दाँत की वस्तुये बनाने वाले (दन्तकाराः), (११) चूना बनाने वाले (सुधाकाराः), (१२) गंधी (गंधोपजीविन), (१३) कम्बल बुनने वाले (कम्बलकारकाः), (१४) धूप बनाने वाले (धूपकाः), (१५) शराब बनाने वाले (शौण्डिकाः), (१६) दर्जी (तुन्नवायाः), तथा (१७) धोबी (रजकाः)।[१] मिलिन्द प्रश्न में भी शाकल के व्यावसायिकों की एक तालिका मिलती है। यह उपर्युक्त तालिका से अधिक बड़ी है। इसमें माला बनाने वालों (मालाकार), सुनारों (सुवर्णकार), चाँदी पर काम करने वालों (सज्झकार), शीशे पर काम करने वालों (सीसकार), टिन पर काम करने वालो (तिपुकार), लोहारों (लोहकार), ताम्रकारों (वट्टकार),पीतल का काम करने वालों (अयकार), जौहरी (मणिकार), कुम्हारों (कुंभकार), वेणु बनाने वालों (वेणुकार), नमक बनाने वालो (लोणकार), चर्मकारों (चम्मकार), रस्सी बनाने वालों (रज्जुकार), सूत बनाने वालों (सुतकार), धनुप की प्रत्यंचा बनाने वालों (जियकार), बाण तैयार करने वालों (उसुकार), चित्रकारो (चित्तकार), रँगरेजो (रंगकार), धोबी (रजक), जुलाहों (तन्तुवाय,) दर्जी (तुन्नवाय), गध तैयार करने वालों (गंधिक), रथ बनाने वालों (रथकार), हाथी दाँत पर काम करने वालो (दन्तकार), टोकरी बनाने वालों (विलिवकार) तथा धनुष बनाने वालों (धनुकार) के नाम आते है।[२]

---

१ रामायण अयोध्याकाण्ड सर्ग ८३।

२ मिलिन्द पञ्हो पृष्ठ ३२४

इन विभिन्न व्यावसायिकों में सुवर्णकार, जौहरी, चित्रकार, रंगरेज, दर्जी, माला बनाने वाले, सुगंधित द्रवों को तैयार करने वाले, जुलाहे तथा हाथी दाँत पर काम करने वाले विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इसका कारण यह है कि नागरिकों के वस्त्र तथा शृंगार के विभिन्न प्रसाधन इन्हीं के द्वारा तैयार किये जाते थे। सुवर्णकारों का नगर-जीवन के साथ विशेष संबंध अर्थशास्त्र से स्पष्ट हो जाता है। इस ग्रंथ में सुवर्णाध्यक्ष शब्द का उल्लेख मिलता है। इस पदाधिकारी का कार्य नगर में रहने वाले सुवर्णकारों के कार्य का पर्यवेक्षण था। इस पदाधिकारी के कार्यालय को कौटिल्य ने अक्षशाला कहा है। कौटिल्य के इस साक्ष्य से स्पष्ट है कि नगरों में मौर्यकाल से ही सुवर्णकार अधिक संख्या में रहने लगे थे, जिस कारण इनके कार्य का निरीक्षण करने वाले पदाधिकारी की आवश्यकता प्रतीत हुई। सुवर्णकार अपने कार्य में बहुत ही दक्ष थे। उनका कार्य प्रधानतः आभूषणों का गढ़ना था। इसके अतिरिक्त वे वर्तन तथा कभी-कभी मूर्तियाँ भी बनाते थे। एक जातक में कहा गया है कि किसी सुवर्णकार ने एक राजा की आज्ञा के पाने के उपरान्त उसकी सोने की मूर्त्ति बनाई थी।[1]

अलंकारप्रेमी नागरिकों के बीच में वर्तमान जौहरी के व्यवसाय का सुविकसित होना स्वाभाविक ही था। जौहरी का कार्य विभिन्न प्रकार के रत्नों की परीक्षा लेना था। वात्स्यायन ने रत्नपरीक्षा की गणना चौसठ विशिष्ट कलाओं में की है, जिनका नागरिक जीवन से विशेष संबंध था। चित्र-निर्माण स्वतंत्र एवं सुविकसित नगर-व्यवसाय था। चित्रकारों के कार्य का एक बहुत ही सुन्दर वर्णन मृच्छकटिक में मिलता है। इस ग्रंथ में कहा गया है कि उज्जयिनी के चित्रकार नाना पात्रों में रंग तथा चित्रनिर्माण की सामग्री को रख कर कार्य करने बैठते थे। नाटक के प्रथम अंक मे विदूषक कहता है कि अन्दर के चतुःशाल के द्वार पर बैठा हुआ मैं सैकड़ों पात्रों को चित्रकार की भांति छूकर रख देता था।[2] रँगरेज वस्त्रों के ऊपर रँगाई का कार्य करता था। नागरिक जीवन मे इसके कार्य की लोकप्रियता की सूचना वात्स्यायन के कामसूत्र से मिलती है। इन्होंने रंगरेजों के द्वारा काम में लाये जाने वाले विभिन्न प्रकार के रंगों का नामोल्लेख किया है।[3] जातकों में दर्जी का उल्लेख अनेक स्थलों पर मिलता है।[4] चुल्लवग्ग में एक स्थान पर दर्जी के अँगुली के ढक्कन (पाटिग्गहो) का उल्लेख मिलता है, जिसका प्रयोग वह सीते समय सुई चुभने से बचने के लिये करता है।[5] उसी के द्वारा सिले हुए वस्त्र नागरिकों के द्वारा काम में लाये जाते होंगे।

मालाकार के व्यवसाय की लोकप्रियता का अनुमान कामसूत्र से लगाया जा सकता है। इस ग्रंथ में माला को नागरिक के शृंगार का एक प्रिय साधन माना गया है।[6] सुगंधित द्रवों के

---

१. जातक, ५, २८२।

२. चतुःशालकद्वारोपविष्टो मल्लकशतपरिवृत्तश्चित्रकार इवांगुलीभिः स्पृष्ट्वा—मृच्छ-कटिक, अंक १।

३. कामसूत्र, पृष्ठ ३३०, सूत्र १७।

४. जातक, ६, ३६६।

५. चुल्लवग्ग ५. ११ ५।

६ „ पृष्ठ ३२, सूत्र १६

परिकल्पन की गणना विकसित नागरिक कला में होती थी। सुगंधित द्रवों में विशेषतः चंदन का तेल तथा फूलों का सुगंध उल्लेखनीय है। इनके द्वारा शृंगार-प्रेमी नागरिक अपने वस्त्रों को सुवासित करता था। जुलाहे कताई तथा बुनाई का कार्य करते थे। इनके द्वारा बहुमूल्य ऊनी तथा सूत्री वस्त्र तैयार किये जाते थे। मन्दसोर के अभिलेख से विदित होता है कि इस प्रकार के कार्य में दक्ष जुलाहे दशपुर के नगर में रहते थे।[१] हाथी दाँत से चूड़ियाँ, मूर्तियाँ, आभूषण, वर्तन तथा विभिन्न प्रकार के सामान बनाये जाते थे। एक जातक में कहा गया है कि जिस प्रकार कुंभकार मिट्टी के द्वारा किसी प्रकार की भी आकृति तैयार कर सकता है। उसी प्रकार हाथी दाँत से कारीगर मनोवाँछित रूप गढ़ते थे।[२]

व्यवसाय की देखरेख के लिए नगरों में पदाधिकारियो की नियुक्ति की जाती थी। इस प्रकार के पदाधिकारियों का उल्लेख अर्थशास्त्र में मिलता है। वे इस बात को देखते थे कि विभिन्न प्रकार के उद्योगधन्धों के पालन करने वाले अपने कार्य को सुचारु रूप से करते हैं अथवा नहीं[३]। कारीगरों का संरक्षण इनका कर्त्तव्य था। यदि कोई व्यक्ति किसी कारीगर के कार्य अथवा उसकी आमदनी में बाधा डालने की चेष्टा करता था, तो ये अधिकारी उसे कठिन आर्थिक दण्ड देते थे।[४] मेगस्थनीज़ ने तो यहाँ तक लिखा है कि यदि कोई व्यक्ति किसी कारीगर के हाथ को काटता अथवा उसे शारीरिक हानि पहुँचाता था, तो उसे मृत्युदण्ड दिया जाता था। मेगस्थनीज़ ने भी पाटलिपुत्र की एक ऐसी समिति का उल्लेख किया है, जिसके सदस्यों का कर्त्तव्य व्यवसाय का निरीक्षण तथा उनके विकास का प्रबन्ध था।[५] व्यवसाय के अधिक प्रचार के कारण भारतीय नगरों में कभी-कभी व्यावसायिक शिक्षा देने वाले आचार्य भी रहते थे।[६] इन आचार्यों की प्रयोगशालाओं मे नवागन्तुक विद्यार्थी अपने बंधुओं की आज्ञा को पाने के उपरान्त मनोवांछित शिल्प में प्रवीणता प्राप्त करने के लिये आता था। आचार्य विद्यार्थी को निःशुल्क शिक्षा देता था। वह अपने शिक्षार्थी को पुत्र के समान मानता था तथा उसके भोजन एवं वस्त्र की व्यवस्था भी करता था।[७]

---

१. फ्लीट, गुप्त इंसक्रिप्शन्स, संख्या १८।

२. जातक, २, ८८।

३. अर्थशास्त्र, प्रकरण ७६।

४. कारुशिल्पिनां कर्मगुणापकर्षमाजीवं विक्रयं क्रयोपघातं वा सम्भूय समुत्थापयतां सहस्त्रं दण्डः—अर्थशास्त्र, प्रकरण ७७।

५. मेक्रिण्डिल, मेगस्थनीज़ एण्ड एरियन, खंड २६।

६. "शिक्षकाभिज्ञकुशला आचार्याश्चेति शिल्पिनः"—बृहस्पतिस्मृति, पंक्ति ६९, पृष्ठ १३५ (गायकवाड़ प्रकाशन)

७. स्वंशिल्पमिच्छन्नाहर्तुं बांधवानामनुज्ञया।
आचार्यस्य वसेदन्ते कृत्वा कालं सुनिश्चितम्॥
आचार्यः शिक्षयेदेनं स्वगृहे दत्तभोजनम्।
न चान्यत्कारयेत्कर्म पुत्रवच्चैनमाचरेत्॥"
स्मृति १७-१८

विद्यार्थी से गृह परिचर्या कराने वाला आचार्य तथा शिक्षासमाप्ति के पूर्व ही आचार्य के गृह से लौट आने वाला विद्यार्थी दोनों ही समाज मे घृणित दृष्टि से देखे जाते थे।[1] शिल्प की पूर्ण शिक्षा तथा आचार्य की अनुमति लेने के उपरांत घर लौटने वाला विद्यार्थी शिल्प का विशेषज्ञ माना जाता था।[2] ऐसा प्रतीत होता है कि व्यावसायिक शिक्षा उच्च कोटि की हुआ करती थी। अजंता तथा बाघ की अनुपम चित्रकारियाँ, उत्खनन में उपलब्ध नाना प्रतिमायें, प्राचीन लौकिक भवन, मन्दिर, मठ, बिहार, स्तंभ, गुफायें, आभूषण, तथा कला एवं शिल्प के अनेक उदाहरण इसके ज्वलंत प्रतीक हैं।

श्रेणी---पुर के भीतर एक ही व्यवसाय के पालन करने वाले अपना संगठन बनाकर रहते थे। इस संगठन के लिए प्राचीन साहित्य मे "श्रेणी" शब्द आता है।[3] जातकों में १८ प्रकार की श्रेणियों के नाम मिलते हैं, उदाहरणार्थ बढ़ई, सुवर्णकार, जुलाहे, चर्मकार, कुंभकार, दलकार, रंगरेज, जौहरी, मल्लाह, सूपकार, नाई, मालाकार, चित्रकार, तेली, कसेरा (कसकर), ग्वाला, टोकरी बनाने वाले तथा गंधकार।[4] अभिलेखों में भी श्रेणी का उल्लेख मिलता है, उदाहरणार्थ नहपान के नासिक के लेख में **"कोलीक श्रेणी"** का उल्लेख मिलता है।[5] इसी प्रकार मन्दसोर के लेख मे **"पट्टवाय श्रेणी"** (रेशमी सूत बनाने वाले कारीगरों के संगठन) का उल्लेख मिलता है।[6] वृहस्पति ने व्यावसायिकों के श्रेणिबद्ध होने के दो कारण बताये हैं :---(१) चोर, डाकुओं तथा अन्य मानवीय आपत्तियों से सुरक्षा तथा (२) सामूहिक लाभ।[7] व्यावसायिकों के इस संगठन में कतिपय प्रधान विशेषतायें परिलक्षित होती है :--- (१) एक व्यवसाय के पालन न करने वाले पुर के

---

१. शिक्षयन्तमदुष्टं य आचार्यं संपरित्यजेत्।
बलाद्वासयितव्यस्स्याद्वधबन्धौ च सोऽर्हति।
---वही, शुश्रूषाभ्युगमप्रकरणम्। १९।

२. गृहीतशिल्पः समये कृत्वाचार्यं प्रदक्षिणम्।
शक्तितश्चान्तुमान्येनमन्तेवासी निवर्तते॥
---नारद, शुश्रूषाभ्युगमप्रकरणम्, २१

३. एकेन शिल्पेन पण्येन वा ये जीवन्ति तेषां समूहः श्रेणी
---कैय्यट, २, १, ५९।

तुलनार्ह :---"श्रेणयो नानाजातीनां एकजातीयकर्मोपजीविनां संघाता"
---मेधातिथि, २, ३०

४. मजुमदार, कारपोरेट लाइफ, पृष्ठ १८-१९।

५. सरकार, सेलेक्ट इंसक्रिप्शन्स, पृष्ठ १५८।

६. फ्लीट, गुप्त लेख, संख्या १८।

७. ग्रामश्रेणिगणानाञ्च संकेतः समयक्रिया।
बाधाकालेतु सा कार्य्या धर्मकार्य्ये तथैव च॥
चाटचौरभये बाधाः सर्व्वसाधारणाः स्मृताः।
कार्यं सर्व्वेनकेन केनचित ---बृहस्पति १७ ५-६

एक ही भाग में रहते थे। कतिपय प्राचीन ग्रन्थों में एक प्रकार के व्यावसायिकों के एक ही साथ रहने का विधान मिलता है, उदाहरणार्थ अर्थशास्त्र[1] तथा अग्निपुराण[2] जातकों में दंतकारवीथि[3], उप्पलवीथि[4] तथा रजकवीथि[5] के उल्लेख मिलते हैं। दन्तकारवीथि का तात्पर्य उस मार्ग से है, जिसके किनारे हाथी दाँत पर काम करने वाले रहते थे। इसी प्रकार उप्पलवीथि तथा रजकवीथि से उन मार्गों का बोध होता है, जिनके किनारे कमल बेचने वाले तथा कपड़ा धोने वाले रहते थे। जातकों में और भी अनेक केन्द्रों का उल्लेख मिलता है, जिनमें एक ही व्यवसाय के अनुयायी रहते थे। एक जातक से विदित होता है कि वाराणसी के उपकंठ पर एक ऐसी बस्ती थी, जिसमें केवल बढ़ई रहते थे (महावड्ढकिगामों)।[6] इसी प्रकार एक दूसरे जातक में लोहारों की बस्ती का उल्लेख मिलता है (कम्मारगामो)[7]।

(२) "श्रेणी" का एक प्रधान होता था, जिसके लिए जातको मे 'जेट्ठक' शब्द का प्रयोग हुआ है। एक जातक में बढ़ई, लोहार, जुलाहों तथा माला बनाने वालों के जेट्ठक का उल्लेख मिलता है।[8] जेट्ठक बहुत समृद्ध हुआ करता था।[9] वह समाज का एक सम्मानित व्यक्ति था। राज-दरबार मे भी वह आदर की दृष्टि से देखा जाता था।[10] इसका प्रधान कारण उसका पद एव ऐश्वर्य ही माना जा सकता है।

(३) जेट्ठक का पद आनुवंशिक होता था। एक जातक में कहा गया है कि जब नाविको की 'श्रेणी' के प्रधान की मृत्यु हो गई, उस समय उसका पुत्र जेट्ठक बनाया गया।[11] इस स्थान पर यह भी उल्लेखनीय है कि व्यवसाय परंपरानुगत हुआ करता था। पिता के व्यवसाय का ही अनुसरण उसका पुत्र करता था। जातकों में इस प्रकार का उल्लेख कई स्थलों पर मिलता है। ऐसा होना अधिक व्यावहारिक भी था, क्योंकि पिता के शिल्प को पुत्र सरलता के साथ सीख सकता था।

(४) धर्मशास्त्रों में 'श्रेणी-धर्म' शब्द का उल्लेख मिलता है। श्रेणी-धर्म का तात्पर्य उन नियमों से है, जो कि आर्थिक श्रेणियों में कानून के रूप में प्रचलित थे।[12] यह शब्द स्मृतियो मे जिस संदर्भ में प्रयुक्त हुआ है, उससे सचमुच ही उपरोक्त अर्थ का बोध होता है। उदाहरणार्थ, मनुस्मृति मे कहा गया है कि धर्मवित् राजा को चाहिये कि जातिधर्म, जनपदधर्म, कुलधर्म और 'श्रेणी धर्म' अर्थात् इन-इन संस्थाओं के रीतिरिवाजों की भली प्रकार छानबीन करके उनसे अविरुद्ध अपने राजकीय नियम और कानूनों की स्थापना करें।[13] इस प्रकार का वचन नारदस्मृति[14] तथा

---

१. अर्थशास्त्र, प्रकरण २१। २. अग्निपुराण, अध्याय १०६।
३. जातक, १, ३२०। ४. वही, २, ३२१।
५. वही, ८२। ६. जातक, ३, २८१।
७. वही, ६, ५१४ ८. वही, ३, ४०५। ९. वही, ३, २८१
१०. वही, ५, २८२। ११. वही, ४, १३६। १२. कारपोरेट, लाइफ, पृष्ठ ३३
१३. जातिजानपदान् धर्म्मान् श्रेणीधर्म्माश्च धर्म्मवित्।
समीक्ष्य कुलधर्म्माश्च स्वधर्मं प्रतिपादयेत।। —मनु, ८, ४१।
१४ नारद १० २।

वल्कयस्मृति[1] में भी मिलता है। इन ग्रन्थों में धर्म शब्द का प्रयोग रीतिरिवाजों अथवा नियमों के अर्थ में हुआ है। स्मृतियों में कहा गया है कि सम्राट् को श्रेणी के कानूनों को आदर की दृष्टि से देखना चाहिये। बृहस्पति ने इसका उल्लेख स्पष्ट शब्दों में किया है। उन्होंने अपने ग्रंथ में एक स्थान पर कहा है कि श्रेणी के प्रधान "श्रेणी-धर्म" के अनुसार अपनी संस्था के सदस्यों के साथ जो व्यवहार करें (वह चाहे क्रूर हो अथवा उदार), राजा को उसका समर्थन करना चाहिये।[2] "श्रेणीधर्म" (श्रेणी के द्वारा बनाये हुए नियमों) का पालन प्रत्येक सदस्य का धर्म समझा जाता था तथा इसका उल्लंघन बहुत बड़ा अपराध माना जाता था।[3] श्रेणी के सदस्य कभी-कभी अपने अधिकारी को चुनते थे व इस बात को देखते थे कि श्रेणी के नियमों का पालन विभिन्न सदस्यों के द्वारा किया जा रहा है अथवा नहीं। प्रायः शुद्ध विचार वालों, वेद के पंडितों, धार्मिक तथा प्रवीण व्यक्तियों को ही यह अधिकार प्रदान किया जाता था।[4] व्यसनी, लालची तथा अयोग्य व्यक्ति इस कार्य से वंचित किये जाते थे।[5] इस प्रकार की व्यवस्था के कारण व्यावसायिक श्रेणियों के सदस्य परस्पर और भी दृढ़बद्ध थे।

(५) ये व्यावसायिक समितियाँ आधुनिक बैंक का भी काम करतीं थीं। वे द्रव्य तथा अग्रहारदान को सुरक्षित रखतीं तथा उस पर सूद देती थी। निक्षेपकर्ता से व्यावहारिक समय भी निश्चित कर लिया जाता था, जिससे दोनों पक्षों में कोई भेद न हो। द्रव्य के सूद से मन्दिर में दीपक जलाना अथवा किसी निर्दिष्ट उद्देश्य की पूर्ति भी उसे करना पड़ता था। नासिक के एक लेख से विदित होता है कि यहाँ की एक कौलीक श्रेणी के पास शकक्षत्रप नहपान के दामाद उषवदात ने २००० कार्षापण जमा किया था, जिसके सूद से भिक्षुसंघ के लिये "चीवरमूल्य" तथा "कुशान्न मूल्य" निकलता था।[6] इसी लेख से विदित होता है कि उषवदात ने नासिक की एक दूसरी कौलीक श्रेणी के पास २००० कार्षापण जमा किया था, जिसके सूद से एक दूसरे भिक्षु-संघ के लिये "चैवरिक मूल्य" तथा "कुशन-मूल्य" (साग-भाजी का खर्चा) निकलता था।[7] इन्दौर के एक लेख से विदित होता है कि इन्द्रपुर (अर्थात् इन्दौर) की एक तैलिक श्रेणी के पास रुपया जमा किया गया, जिसके सूद से सूर्यमन्दिर में दीपक जलाने के लिये तेल का खर्चा चलाया जाता था।[8] दशपुर की "पट्टवाय श्रेणी" के ऊपर सूर्यमन्दिर के पुनरुद्धार का भार था।[9]

---

१. याज्ञवल्क्य, १, ३६०। २. बृहस्पति, १७, १८।

३. "जातिश्रेण्यधिवासानां कुलधर्मांश्च सर्व्वतः।
वर्ज्जयन्ति च ये धर्मम् तेषां धर्म्मो न विद्यते।"
—शांतिपर्व, अध्याय ३६, श्लोक १९।

४. शुचयो वेदधर्म्मज्ञाः दक्षाः दांताः कुलोद्भवाः।
सर्वे कार्यप्रवीणाश्च कर्त्तव्याः महोत्तमाः॥—बृहस्पति, १७, ९।

५. विद्वेषिणोव्यसनिनः शालीनालसभीरवः।
लुब्धातिवृद्धबालाश्च न कार्य्याः कार्यचिन्तकाः॥— वही, १७, ८।

६ एपिग्राफिआ इंडिका ८ ८२। ७ वही ८ ८२। ८ फ्लीट कारपस इंडिकेरम ३ ७०

९ फ्लीट—वही ३ पृष्ठ ८१

व्यापारी—व्यावसायिक विकास के साथ ही वाणिज्य का भी विकास अवश्यंभावी है क्योंकि उत्पादित वस्तु का जब तक क्रयविक्रय न हो, तब तक उसकी कोई भी सार्थकता नहीं है। ग्राम की अपेक्षा नगर क्रयविक्रय का अधिक उपयुक्त केन्द्र होता है। यही कारण है कि नगर-जनसंख्या में प्रायः व्यापारियों का प्राधान्य रहता है। यह विशेषता प्राचीन भारत के नगरों में भी देखने को मिलती है। जिन प्राचीन ग्रंथों में नगरवर्णन मिलते है, उनमें प्रायः व्यापारियों का भी उल्लेख मिलता है। रामायण मे अयोध्यावर्णन के प्रसंग में कहा गया है कि यह नगर अनेक देशों के वणिकों का केन्द्रबिन्दु था।[१] महाभारत में इन्द्रप्रस्थ को विदेशी वणिकों का निवास-स्थान बताया गया है।[२] मिलिन्दपञ्हो में एक नगर के वर्णन के संबंध में फल वाले (फलिक), जड़ी बेचने वाले (मूलिक), भात बेचने वाले (ओदनिक), पूवे बेचने वाले (पूविक), मछली बेचने वाले (मच्छिक) तथा मांस बेचने वाले (मांसिक) व्यापारियों का उल्लेख मिलता है।[३] इन्दौर के लेख मे इन्दौर में रहने वाले वणिकों का उल्लेख किया गया है (इन्द्रपुरक-वणिग्भ्याम्)[४]। नगर-व्यापारी तीन प्रकार के थे :—(१) फेरी वाले (२) फुटकर विक्रेता तथा (३) थोकविक्रेता।

फेरी वाले—फेरीवाले बहुत छोटे व्यापारी थे। उनके पास बहुत कम सामान होता था, जिसके लिये वे नगर के विभिन्न भागों में घूमते थे। जातक ग्रंथों में फेरी वालों के प्रायः वर्णन मिलते हैं। एक जातक में घोड़े की पीठ पर माल लाद कर घूमने वाले व्यापारी का उल्लेख मिलता है।[५] एक दूसरे जातक में अपने सामान को गाड़ी में लादकर बस्ती के भीतर फेरी लगाने वाले वणिक का वर्णन किया गया है।[६] इसी प्रकार एक अन्य जातक में एक युवती सिर पर फल की टोकरी रखे हुए उन्हें बेचने के लिये नगर के विभिन्न भागों में फेरी लगाती हुई उल्लिखित की गई है।[७] कभी-कभी फेरी वाले आपसी समझौता कर लेते थे। उसके अनुसार वे लोग यह निश्चय कर लेते थे कि अमुक पुरभाग में अमुक व्यक्ति फेरी लगावेगा।[८] इस प्रकार के समझौते के कारण उनमें किसी प्रकार की प्रतियोगिता नहीं रह जाती थी।

फुटकर तथा थोकविक्रेता—फुटकर विक्रेताओं की दूकानें एक जगह होती थीं। ये छिटपुट सामान बेचते थे। पर इसके विपरीत थोकविक्रेता बहुत बड़े व्यापारी हुआ करते थे। वे काफी माल एक ही बार में बेच देते थे। अष्टाध्यायी में थोकविक्रेता के लिये क्रयविक्रयिक शब्द आता है।[९] अर्थशास्त्र में थोकविक्रेता को "विक्रीण"[१०] तथा कहीं कहीं "वैदेहक"[११] भी कहा गया है। इस ग्रंथ में फुटकर विक्रेता के लिये **'वैय्यावृत्यकर'** शब्द मिलता है।[१२]

---

१. नाना देशनिवासैश्च वणिग्भिरुपशोभिताम् —बालकाण्ड, सर्ग ५, पंक्ति २८

२. वणिजश्चाययस्तत्र देशोदिग्भ्यो धनार्थिनः। —आदिपर्व, अध्याय १९९, पंक्ति ७५।

३. मिलिन्दपञ्हो, पृष्ठ ३२४।

४. फ्लीट, वही, ३, ७०।

५. जातक, २, १०९।

६. वही, १, २०५।

७. वही, ३, २१।

८. वही, १, १११।

९ पाणिनिकालीन भारतवर्ष पष्ठ २३०।

१० अर्थशास्त्र, प्रकरण ६४।

११ अर्थशास्त्र प्रकरण ६४

१२ वही प्रकरण ७७

कभी-कभी फुटकर विक्रेता थोकविक्रेता से सामान लेकर दूसरे जगहों में बेचते थे। विक्रय में जो लाभ होता था, उसमें थोकविक्रेता फुटकर विक्रेता को भाग देता था। इस प्रकार के फुटकर विक्रेता के व्यापार को अर्थशास्त्र में 'वैय्यावृत्यविक्रय' कहा गया है।[१] इस प्रकार का व्यापार अधिक व्यापक रहा होगा, क्योंकि इसमें फुटकर तथा थोक विक्रेता दोनों को ही सरलता थी।

संभूयसमुत्थान–कभी-कभी नगर के बड़े तथा छोटे व्यापारी साझापत्ती के सिद्धान्त पर कार्य करते थे। इस प्रकार के व्यापार को स्मृतियों में **"संभूयसमुत्थान व्यवहार"** कहा गया है।[२] जातकों मे ऐसे व्यापार का उल्लेख कई स्थलों पर हुआ है। कूटवणिज जातक से विदित होता है कि वाराणसी के दो व्यापारियो ने साझापत्ती के सिद्धान्त पर व्यापार करना प्रारंभ किया था।[३] इसी जातक में श्रावस्ती के दो व्यापारियों के सहभागिता के द्वारा व्यापार करने का उल्लेख मिलता है[४]। महावणिज जातक[५] तथा बावेरू जातक[६] के द्वारा भी सम्मिलित व्यापार की सूचना मिलती है। साझेदार प्रक्षेप में समान, अतिरिक्त तथा हीन अंश के अनुसार क्षय, व्यय तथा वृद्धि में भाग का निर्णय शांतिपूर्ण ढंग से करते थे[७]। साझेदारों में व्यवहार-संबंधी आपसी समझौता भी होता था, जिसके लिये स्मृतियों में 'समय' शब्द का प्रयोग किया गया है। इस समझौते का पालन साझेदार का परम कर्त्तव्य था[८]। साझापत्ती को व्यापारियों के सामूहिक जीवन का एक महत्त्वपूर्ण अंग माना जा सकता है।

सार्थ—जब एक नगर के व्यापारी दूसरे नगर में सामान बेचने के लिये निकलते थे, उस समय वे अपना एक समूह बनाकर चलते थे। इस समूह को सार्थ कहा जाता था। अमरकोष में सार्थ को यात्रा करने वाले पांथों का समूह कहा गया है (सार्थोऽध्वन्वृन्दम्)[९]। इसका एक नेता होता था, जिसे जातकों में "सत्थवाह" कहा गया है।[१०] महाभारत में भी सार्थ के नेता को सार्थवाह कहा गया है।[११]क्षीरस्वामी ने अमरकोष की टीका में कहा है कि जो पूंजी द्वारा व्यापार करने वाले पान्थों

---

१. अर्थशास्त्र, प्रकरण ६४।

२. 'वणिक्प्रभृतयो यत्र कर्म संभूय कुर्वते।
तत्संभूय समुत्थानं व्यवहारपदं स्मृतम्॥'—नारद, ३, १

३. जातक, १, ४०४।

४. वही, १, ४०४।

५. वही, २, ३०।   ६. वही, ३, १२६।

७. फलहेतोरुपायेन कर्म संभूय कुर्वताम्। आधारभूतः प्रक्षेपस्तेनोत्तिष्ठेयुरंशतः॥
समोऽतिरिक्तो हीनो वा तत्रांशो यस्य यादृशः। क्षयव्ययौ तथा वृद्धिस्तत्र तस्य तथाविधाः॥ —नारद, ३, २-३

८. "भाण्डपिण्डव्ययोद्धारभारसारान्ववेक्षणम्।
कुर्युस्तेऽव्यभिचारेण समये स्वे व्यवस्थिताः॥ —वही, ३, ४।

९. अमरकोष, पृष्ठ १३३ (हरदत्त शर्मा द्वारा संपादित)

१०. जातक १. ९८—

११ अहं सार्थस्य नेता व सार्थवाह शुचिस्मिते   वनपर्व ६१ १२२

का अगुआ हो, वही सार्थवाह है। सार्थ का वर्णन जातकों में प्रायः अनेक स्थलों पर मिलता है। जरुदपन जातक से विदित होता है कि गाड़ियों में मांडो को भरकर श्रावस्ती के व्यापारियों का एक लंबा सार्थ निकला था।[2] गुट्टिल जातक के अनुसार वाराणसी के व्यापारियों ने उज्जयिनी के लिये अपना एक समूह बनाकर प्रस्थान किया था।[3] पंडर जातक में भी इस प्रकार की व्यापार मंडली का उल्लेख मिलता है।[4] सुप्पारक जातक के अनुसार सात-सौ व्यापारियों का एक लंबा जत्था व्यापार के लिये बाहर निकला था।[5]

महाभारत के वनपर्व में एक महासार्थ का वर्णन मिलता है, जो जंगलों से होकर जा रहा था। इस महासार्थ में हाथी, घोड़े, तथा रथों का बाहुल्य था[6]। उसमें गाय, खरोष्ट्र, अश्व, तथा पैदल चलने वालों की बहुसंख्या थी[7]। उसमें युवक, स्थविर, बालक तथा स्त्रियाँ भी सम्मिलित थीं[8]। विशालता के कारण वह महासार्थ मनुष्यों का समुद्र-सा प्रतीत हो रहा था[9]। सार्थमंडल के सदस्य अत्यंत समृद्ध थे[10] तथा सार्थिक कहलाते थे।[11] यात्राकाल में सार्थ का नेता ही सार्थ का स्वामी होता था।[12] इस महासार्थ को जब हाथियों के समूह ने कुचलना प्रारंभ किया, उस समय सार्थिकों में भगदड़ मच गई। खलबली के कारण चारों ओर भीषण जनरव मच गया।[13] इस शोरगुल का कारण सार्थिकों की महती संख्या ही मानी जा सकती है; सार्थिक सार्थ में सामूहिक जीवन के पाने के कारण बहुत ही सुखी थे। वे मंडली में बहुत बड़ी सुरक्षा तथा आनंद का अनुभव करते थे। महाभारत में कहा गया है कि सार्थ सार्थिक का उसी प्रकार मित्र है, जिस प्रकार घर में गृहस्थ का मित्र उसकी भार्या है।[14]

---

१. सार्थान् सधनान् सरतो वा पान्थान् वहति सार्थवाहः—अमरकोष, पृष्ठ २१७ (हरदत्त शर्मा संपादित)

२. जातक, २, २९४। ३. वही, २, २४८।

४. वही, ५, ७५। ५. वही, ४, १३६।

६. ददर्शाथ महासार्थं हस्त्यश्वरथसंकुलम् —महाभारत वनपर्व, ६१, १०६।

७. गोखरोष्ट्राश्वबहुलपदातिजनसंकुलम् —वही, वनपर्व, ६२, ९।

८. सार्थवाहं च सार्थं च जना ये चात्र केचन।
यूनः स्थविरबालाश्च सार्थस्य च पुरोगमाः।।
- वही, वनपर्व ६२, पंक्ति ३४-३५।

९. यौऽपि निर्जनेऽरण्ये संप्राप्तोऽयं जनार्णवः— वही, वनपर्व, ६१, १२।

१०. वही, वनपर्व, ६२, १७।

११. वही, वनपर्व, ६२, ८।

१२. तामुवाचानवद्यांगी सार्थस्य महतः प्रभुः।
सार्थवाहः शुचिर्नाम शृणु कल्याणि मद्वचः।।
—वही, वनपर्व, ६१, १२१।

१३ हाहारवंप्रमुञ्चन्त सार्थिकाः शरणार्थिनः—वही, वनपर्व, ६२, ८।

१४ सार्थः प्रवसतो मित्रं भार्या मित्रं गृहे सतः महाभारत वनपर्व २८७ ४५

निगम तथा श्रेष्ठी—[illegible] समितियों के समान ही व्यापारिक समितियाँ भी होती थीं, जिन्हें निगम कहा जाता था। निगम के प्रधान को सेट्ठि (श्रेष्ठी) कहा जाता था। जातकों में श्रावस्ती के अनाथपिंडक तथा कौशाम्बी के घोषित एवं अन्य नगर-श्रेष्ठियों के नाम मिलते हैं। विशिष्ट अवसरों पर नगर-श्रेष्ठी के साथ उसकी समिति के सम्मानित सदस्य भी प्रस्तुत रहते थे। जिस समय अनाथपिंडक जेतवन को बौद्धविहार को दान में दे रहा था, उस समय उसके साथ उसकी समिति के ५०० व्यापारी उपस्थित थे। श्रेष्ठी अतुल धनराशि का स्वामी माना जाता था। एक जातक में किसी नगर श्रेष्ठी को अस्सी करोड़ का स्वामी बताया गया है।[1] साकेत के श्रेष्ठी कालक की संपन्नता की ओर प्रकाश डालते हुए एक जातक में कहा गया है कि उसने जीवक नामक वैद्य की सेवाओं से प्रसन्न होकर उसे १६०० कार्षापणों की थैली भेंट की थी।

श्रेष्ठी का सम्मान व्यापारी और राजा दोनों ही करते थे। एक जातक के अनुसार उसका आदर राजा, नागरिक तथा जनपद के सभी लोग करते थे (राजपूजितो नगरजनपदपूजितो)।[2] एक-दूसरे जातक में यह दिखाया गया है कि जब एक श्रेष्ठी को प्राणदंड देना निश्चित किया गया, उस समय समस्त व्यापारी तथा नागरिक राजा के पास प्रार्थना करने के लिए उपस्थित हुए।[3] श्रेष्ठी भी सर्वदा अपनी समिति के सदस्य व्यापारियों के लाभ के लिये कार्य करता था।[4] यह राज्य के लिये भी उपकारी हुआ करता था। एक जातक में वर्णन मिलता है कि राजा के कल्याण के लिये किसी श्रेष्ठी ने अपना समस्त धन उसे अर्पित कर दिया था।[5] उसका पद संभवतः आनुवंशिक था, क्योंकि एक जातक में कहा गया है कि किसी श्रेष्ठी की मृत्यु के उपरान्त छठी पीढ़ी तक के उत्तराधिकारी उसके पद पर क्रमशः विद्यमान थे।[6] उसकी योग्यता, उपयोगिता तथा उच्च स्थान को देखते हुए कभी-कभी उसे शासन समितियों में भी स्थान दिया जाता था। दामोदपुर के लेख से ज्ञात होता है कि धृतिपाल नामक एक नगरश्रेष्ठी उस समिति का एक सदस्य था, जो कि कुमारामात्य वेत्रवर्मा को सहायता पहुँचाता था।[7]

---

१. जातक, १, ३४५।
२. जातक, ५, ३८२।
३. जातक, ६, १३५।
४. वहूपकारो नेगमस्स च —विनयपिटक, १, २७३।
५. जातक, ५, १८५।
६. जातक, ५, ३८४।
७ एपिग्राफिआ इंडिका १५, १३३

के लेख का आधार भी प० अम्बिकादत्त व्यास द्वारा प्रस्तुत जीवन चरित्र ही प्रतीत होता है[1]। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा तथा डॉ० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय ने इनका समय क्रम से सन् १७६२-१८२५ ई०[2] तथा सन् १७६१-१८२४ ई० के लगभग निर्धारित किया है।[3] स्वयं लल्लूलाल कृत ग्रन्थों मे से किसी की भूमिका इस पर प्रकाश नहीं डालती। डॉ० वर्मा, डॉ० वार्ष्णेय तथा पं० रामचन्द्र शुक्ल द्वारा निर्धारित सन्-संवत् में दो-एक वर्ष का ही अन्तर है। डॉ० वार्ष्णेय ने लल्लूलाल का जीवनकाल मंत्री लॉकेट के १९ दिसम्बर १८१६ ई० को एच० वुड हिसाब निरीक्षक को भेजे हुए विवरण पर आधारित किया है। यह विवरण इस प्रकार है :—

सरकारी नौकरी पाने की मूल तिथि	अपने पद पर काम करने की मूल तिथि	व्यक्ति की वर्तमान अवस्था	देशी व्यक्ति का नाम	मासिक वेतन
	फरवरी १८०२ ई०	५५ वर्ष	श्रीलाल कवि	५०)रु०

प्रस्तुत विवरण के अनुसार लल्लूलाल का जन्म १७६१ ई० के आसपास ही ठहरता है। किसी अन्य प्रामाणिक लेख सामग्री के अभाव में तथा फोर्ट विलियम कालेज के विवरणों के आधार पर इन्हें १७६१ सं० १८२४ ई० तक जीवित माना जा सकता है।

लल्लूलाल के पिता का नाम चैनसुख था। उनकी आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी। पौरोहित्य कर्म करके जीवन-निर्वाह करते थे। पं० अम्बिकादत्त व्यास ने लल्लूलाल के वंश के सम्बन्ध में रामशंकर व्यास की सहायता और आगरा कालेज के हेड पण्डित रामेश्वर भट्ट की कृपा से प्राप्त एक लेख 'बिहारी विहार' में उद्धृत किया है। प्रस्तुत लेख से लल्लूलाल के व्यक्तिगत जीवन पर तो विशेष प्रकाश नहीं पड़ता, हाँ यह अवश्य विदित हो जाता है कि लल्लूलाल के भाई तथा उनके वंशजों मे से अधिकांश स्वयं लल्लूलाल की ख्याति से लाभान्वित हो आगरा कालेज मे भाषा-पण्डित का पद प्राप्त कर सके थे।

लल्लूलाल को ब्रजभाषा का तो अच्छा ज्ञान था किन्तु उर्दू-फारसी तथा संस्कृत के वे बहुत अच्छे जानकार न थे। सं० १८४० में इनके पिता का देहान्त हो गया। उनके सामने जीविकोपार्जन की समस्या उपस्थित हुई। पौरोहित्य कर्म मे उनकी विशेष रुचि न थी। अतः घर का अर्थ-दारिद्र्य दूर करने के लिए जीविका-हेतु बाहर निकल गये।[4] भ्रमण करते हुए सं० १८४३ में आप बंगदेश-मकसूदाबाद में आए। यहाँ कृपा सखी के चेले गोस्वामी गोपालदास के सत्संग से नव्वाब मुबारक-

---

१. बिहारी विहार, भूमिका, पृष्ठ २८–३५—पं० अम्बिकादत्त व्यास

२. ब्रजभाषा, पृष्ठ २९—डा० धीरेन्द्र वर्मा

३. (क) 'लल्लूलाल—जीवनी और रचनाएँ'—डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, प्र०—सम्मेलन पत्रिका, प्रयाग।

(ख) आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृष्ठ २५६—डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

(ग) फ़ोर्ट विलियम कालेज, पृ० ९३—डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

४. लल्लूलाल चार भाई थे. लल्लू जी फिर दयालजी- मोतीराम जी और चुन्नीलाल जी। लल्लूजी के सन्तान न थी के पुत्र हरिराम नामल स्कूल में भाषा पण्डित थे और ३०रु०

उद्दौला से आपकी भेट हुई। नवाब साहब और स्वयं गोस्वामी गोपालदास से अत्यधिक आदर सम्मान पाकर लल्लूलाल मुर्शिदाबाद में सात वर्ष तक रहे। सं० १८५० में गोपालदास की मृत्यु हो गई अत: स्थान और जीवन से विरत हो लल्लूलाल नवाब मुबारकउद्दौला से हठपूर्वक विदा ले कलकत्ते आए। यहाँ बावन लक्खी रानी भवानी के पुत्र राजा रामकृष्ण से इनका परिचय हुआ जिनके आश्रय में ये कुछ समय कलकत्ता रहे। पं० किशोरीलाल गोस्वामी का कहना है कि उस समय इनकी प्रिय पत्नी भी इनके साथ थी[1]। जब राजा रामकृष्ण की जमींदारी का पुन: प्रबन्ध हुआ और उन्होंने अपना राज्य पाया तब लल्लूलाल उनके साथ ही नाटौर चले गये। कुछ वर्षों के अनन्तर राज्य में फिर उपद्रव हुआ और राजाजी को कैद करके मकसूदाबाद भेज दिया गया। लल्लूलाल एक बार फिर आश्रयहीन हो गये। अब वे कलकत्ते जाकर 'चित्तपुर की सड़क मे टिके'[2]। कलकत्तावासियों ने वाह्य रूप में तो इनका बड़ा आदर-सत्कार किया किन्तु आर्थिक सहायता कुछ न की। इस बात को स्वयं लल्लूलाल ने लिखा है कि "उन्होंने थोथे शिष्टाचार मे जो कुछ वहाँ से लाया था सो बैठ कर खाया।" तात्पर्य यह है कि लल्लूलाल को तीन वर्ष तक जीविका का कष्ट बना रहा। तंग आकर वे जगन्नाथपुरी गये। कहते है कि महाप्रभु के मन्दिर में उन्होने अश्रुसिक्त नेत्रों से एक स्वनिर्मित निर्वेदाष्टक पढ़ा, जिसका प्रथम दोहा इस प्रकार है :—

विश्वम्भर बनि फिरत हौ, भले बने महराज।
हमरी ओर निहारिकै, लखौ आपुनो काज ।।[3]

दैवयोग से नागपुर के राजा मनिया बाबू वहाँ उपस्थित थे। दयार्द्र हो उन्होंने लल्लूलाल को अपने साथ नागपुर ले जाना चाहा। किन्तु किसी कारणवश लल्लूलाल गए नहीं और कलकत्ता लौट आए। यहां सं० १८५६ में लाला गुलाबराय और पृथ्वीधर मिश्र ने इनसे सुरति मिश्र का 'अमर चन्द्रिका' बाबू डोमनसिंह के हाथ लिखवाया। पुस्तक का अन्तिम पद इस तथ्य

तनख्वाह पाते थे। स्वयं दयाशंकर जी आगरा कालेज में ६०) रु० पर भाषा पण्डित थे। मोतीलाल के पुत्र नहीं हुआ। वे भी ३०) रु० पर आगरा में भाषा पढ़ाते रहे। चुन्नीलाल २०) रु० पर आगरा कालेज में भाषा-पण्डित थे। उनके पुत्र मन्नूलाल ५०) रु० पर भाषा पाठक थे और छगन लाल ३०) रु० पर प्रिंसिपल के क्लर्क। मन्नूलाल के चार पुत्र हुए—केशवराम, विशेषरदयाल, अमृतलाल और बसन्तराम। केशवराम ३०) रु० पर क्लर्क थे। विशेषरदयाल डिप्टी इन्स्पेक्टर थे, अमृत लाल २५) रु० पर फर्रुखाबाद में राइटिंग मास्टर थे और बसन्तराम ने हिन्दी पढ़ कर भी नौकरी नहीं की। केशवराम दो-तीन वर्ष रोगग्रस्त रहकर स्वर्ग सिधारे। विशेषरदयाल और अमृतलाल सं० १९५३ में मरे। बसन्तराम इस लोक के समय मौजूद थे।

—बिहारी विहार, भूमिका, पृष्ठ ३२—३३

१. सरस्वती, सन् १९०१ (फरवरी) भाग २, सं० २,पृ० ६८-७१

२ बिहारी विहार भूमिका—पृ० ३९

३ सरस्वती सन १९०१ फरवरी भाग २ स० २ पृ० ६८—७१

की ओर स्पष्ट सकेत करता है । कलकत्ते मे दीवान काशीनाथ के यहाँ रह कर गोपीमोहन ठाकुर तथा उनके अनुज हरीमोहन ठाकुर की सहायता से इनकी पादरी बुरन साहिब से भेंट हुई। उस समय अंग्रेजी भाषा का इतना प्रचार न था। ब्रज और गुजराती का अच्छा ज्ञान होने पर भी आपको सस्कृत-अग्रेजी भाषा की टूटी फूटी ही जानकारी थी। पादरी साहब ने लल्लूलाल को सहायता का वचन तो दिया किन्तु एक मास तक कुछ न किया। अतः आप एक बार फिर दीवान काशीनाथ[२] के छोटे पुत्र श्यामचरण बाबू की कृपा से डा० रसल से मिले। फिर उनसे चिट्ठी ले आप ईस्ट इण्डिया कम्पनी के उच्चाधिकारी डा० गिलक्राइस्ट से मिले। यही भेंट लल्लूलाल की उन्नति का प्रथम सोपान सिद्ध हुई। स्वयं लल्लूलाल के शब्दो में, उन्होंने मुझे देख अति प्रसन्न हो कहा, "एक भाषा जानने वाला हमें चाहिता था। तुमने अहै अच्छा किया जो हमसे मुलाकात की। तुम्हारी चाकरी निस्संदेह पाठशाला में होगी। तुम हमारे पास नित आया करो। उस दिन से मैं उनके पास जाने लगा, औ जौ वे पूछते सौ बताने।"[३] किन्तु आगरा कालेज के हेड पण्डित रामेश्वर भट्ट से प्राप्त लेख में इनके भाग्योदय का मूल कारण कुछ और ही दिया है। गोस्वामी किशोरीलाल ने अपने लेख में इसका सविस्तार वर्णन कर दिया है कि, आगरे के तैरने वाले प्रसिद्ध हैं। अतएव लल्लूलाल भी अच्छे तैराक थे। एक दिन तीसरे पहर ये कलकत्ते में गंगा-तट पर टहल रहे थे कि उन्होंने एक अंग्रेज को जल में डूबते देखा। बस, चट ये कपड़े उतार और अपने प्राणों को तुच्छ समझ जल में कूद पड़े और दो ही गोते मे अंग्रेज को बाहर तीर पर ले आये। वह अग्रेज ईस्ट इण्डिया कम्पनी का उच्च कर्मचारी था। अतएव उसने अपने प्राणरक्षक लल्लूलाल की कृतज्ञता न भुलाई। इन्हें एक सहस्र रुपए नकद देकर एक छापाखाना करा दिया। हिन्दी की कदर थी, जब सहस्रों रुपये का माल छापेखाने में हो गया, उसने इन्हीं को दे दिया।[४]

लल्लूलाल ने संवत् १८४३ में आगरा छोड़ने से लेकर कालेज में नौकरी प्राप्त करने तक

---

१. नाम सरल रस ग्रंथ यह, सुरस महा अभिराम।
जामें रस अति भरि रह्यो, कविजन मन-बिस्राम।
श्री पृथ्वीधर मिश्रवर महाराज बर पाई।
श्रीयुत राय गुलाब पुनि लाल मिले सहाई।
श्री लल्लूजी की कृपा लग्यो हाथ बिनु प्रास।
लिख्यौ आदि रस देखि सो चीतपुर करिबास।।

—बिहारी विहार, पृष्ठ ३९ भूमिका

तथा अमर चन्द्रिका, सुरति मिश्र (सं० १८५६—चैत्र-कृष्ण)

२. इनके पौत्र बाबू दामोदरदास खत्री सन् १९०१ तक कलकत्ते के बड़े बाजार के संवलिया जी के मन्दिर के अधिष्ठाता थे।—सरस्वती, सन् १९०१ (फरवरी) भाग १, सं० २, पृष्ठ ६८-७१ (पाद टिप्पणी)

३. सरस्वती, सन् १९०१ (फरवरी) भाग १, सं० २,

४ बिहारी विहार भूमिका ३३

का आत्मकथात्मक अंश संक्षेप में 'लाल चन्द्रिका' में दिया है।[१] उनके आत्म कथन से ज्ञात होता है कि उनकी 'संवत् १८५७ में आजीविका कम्पनी के कालेज में स्थित हुई।' उस समय लल्लूलाल की नियुक्ति केवल सर्टीफिकेट मुंशी के रूप में रही होगी क्योंकि कालेज की स्थापना के समय नियुक्त अध्यापको की सरकारी सूची में लल्लूलाल के नाम का उल्लेख नहीं मिलता। २५ फरवरी सन् १८०२ को कालेज कौंसिल ने 'भाखा मुंशी' के सम्बन्ध में १ अगस्त सन् १८०१ से ३१ जनवरी सन् १८०२ तक का बिल स्वीकार किया था। उसमें भी लल्लूलाल का नाम कहीं नही है। इससे ज्ञात होता है कि अब तक लल्लूलाल सर्टीफिकेट मुंशी की हैसियत से काम कर रहे थे।[२] कालेज अधिकारियों की भाखा-मुंशी की मांग सर्वप्रथम १९ फरवरी सन् १८०२ को स्वीकृत हुई थी और उसके बाद लल्लूलाल इस पद पर नियुक्त हुए थे। अतः ७ जून १८०२ ई० की तालिका में लल्लूलाल का नाम उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त सरकारी पत्रों में भी उनकी नौकरी पाने की मूल तिथि फरवरी सन् १८०२ दी हुई है।[३]

प्रारम्भ में कालेज मे हिन्दुस्तानी की प्रधानता रही। इसके फलस्वरूप लल्लूलाल कृत 'प्रेमसागर' की रचना हुई। इसके बाद मजहर अली खां 'विला' और मिर्जा काजम अली 'जवा' लिपिकारों की सहायता से लल्लूलाल ने एक ही वर्ष (१८०४ ई०) में 'सिंहासन बत्तीसी' (सुन्दर दास कृत ब्रजभाषा ग्रंथ से), 'बैताल पचीसी' (सुरति मिश्र के ब्रजभाषा ग्रंथ से), 'शकुन्तला' (संस्कृत का भाषानुवाद) तथा 'माधोनल' (मोतीराम कृत ग्रंथ से) चार अनुवाद प्रस्तुत किये। तदुपरान्त जेम्स मोअट के ९ मई, १८०४ ई० के पत्रानुसार,[४] हिन्दुस्तानी विभाग में विशेष आवश्यकता न रह जाने के कारण लल्लूलाल और सदल मिश्र दोनों को कालेज से हटा दिया गया था। कालेज कौंसिल के ११ जून, १८०५ ई० के प्रस्तावानुसार[५] उन्हें जून १८०४ ई० के अन्त से वेतन मिलना भी बन्द हो गया। किन्तु कालेज कौंसिल के १७ अक्टूबर १८०४ ई० के निर्णय से ज्ञात होता है कि उन्हें फिर रख लिया गया था और वेतन भी १ जुलाई १८०४ ई० से दिया गया, क्योंकि वे उस समय से नियुक्त माने गये।[६]

लगभग चौदह मास तक लल्लूलाल से निरन्तर कार्य लेने के उपरान्त कालेज कौंसिल ने उन्हे एक बार फिर अनावश्यक समझ १६ सितम्बर १८०५ ई० को भाखा-मुंशी के पद से हटा दिया। अब उन्हें हिन्दुस्तानी अनुवादकों में स्थान दिया गया। समय-समय पर उन्हें हिन्दुस्तानी प्रेस में तथा अन्य प्रकार के कार्य मिलते रहे। किन्तु व्यवस्था ऐसी थी कि समय आने पर उन्हे कालेज से अलग भी किया जा सकता था।[६] लल्लूलाल की पुनर्नियुक्ति में अधिक समय नहीं बीता।

---

१. लाल चन्द्रिका भूमिका, (सन् १८१८)

२. Proceedings of the college of Fort William—Home Misc. Vol. I, p. 2.

३-४. Proceedings of the college of Fort William 27th Feb. 1816–22nd April 1818. Home Misc, Vol. VI P. 290-293 & Vol. I, Page 320.

५. Ibid—P. 382.

६ Ibid Vo II P 42

उसके बाद लगातार वे भाखा-मुंशी के पद पर कार्य करते रहे उन्हें ५०) रु० मासिक मिलता था। सन् १८१० की रिपोर्ट में टेलर ने उन्हें 'हिन्दी-मुंशी' भी कहा है।[1] पहली मई० १८२३ ई० के सरकारी विवरण पत्र में अध्यापकों तथा उनके वेतनों की सूची में लल्लू लाल का नाम अन्तिम बार मिलता है।[2]

इन तेईस-चौबीस वर्षों में लल्लूलाल के अनेक ग्रंथ कालेज अध्यक्षों की देखरेख में प्रकाशित हुए। सन् १८१८ के आसपास लल्लूलाल ने जब अपनी रचनाओं का सर्वसाधारण में इतना प्रचार एव प्रसार देखा तो कम्पनी से कुछ आर्थिक सहायता लेकर संस्कृत प्रेस खोला। पटल डांगा मुहल्ले मे इनका छापाखाना था और बड़े बाजार मे बाबू मोतीचन्द्र गोपाल दास की कोठी में हरिदेवदास सेठ के यहाँ इनकी रचनाएँ बिकती थीं। संस्कृत प्रेस से प्रकाशित पुस्तकों में 'सिहासन बत्तीसी, 'माधव विलास', 'सभा विलास,' 'प्रेमसागर' 'राजनीति,' 'भाषा कायदा,' 'लतायफ-इ-हिन्दी,' 'माधोनल' (माधवनल), बैताल पच्चीसी और 'लाल चन्द्रिका' का विशेष रूप में उल्लेख मिलता है।[3]

कहते हैं कि सन् १८२४ में लल्लूलाल फोर्ट विलियम कालेज से पेंशन ले और अपना छापाखाना नाव पर लाद आगरे ले आए तथा वृद्धावस्था के दिन सुख से काटने लगे। कुछ विद्वानों का कहना है कि घर का प्रबन्ध कर और छापाखाना आगरे में स्थापित कर वे कलकत्ते लौट गए थे और वहीं उनका स्वर्गवास हुआ। डा० वार्ष्णेय का विचार है कि लल्लूलाल का निधन १८२४ के लगभग हो गया था। क्योंकि एक तो १८२३ ई० के बाद विवरणों में उनका नाम नहीं मिलता, दूसरे २३-२४ वर्ष तक कालेज की सेवा करने के उपरान्त पेंशनभोगियों में भी उनका नाम उपलब्ध न होना यही संकेत करता है कि उनका निधन हो चुका था[4]। प्राप्त सामग्री से यह विदित नही होता कि लल्लूलाल का स्वर्गवास किस आयु मे और कहाँ हुआ। हां, १८२३ ई० तक उनका जीवित रहना निश्चित है।

लल्लूलाल के नाम से प्राप्त ग्रंथों की सूची इस प्रकार है:— सुन्दरदास कृत ब्रजभाषा ग्रथ से 'सिहासन बत्तीसी' (सन् १८०१), सुरत कवीश्वर कृत ब्रजभाषा रचना से 'बैताल पचीसी'

---

१. आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृष्ठ ३८३—डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

२. Proceedings of the college of Fort William, Home misc, Vol. III., P. 104

३. बिहारी विहार, भूमिका, पृष्ठ ३१

४. (क) रामेश्वर भट्ट के अनुसार, 'ये सब माल नावों पर लादकर आगरे लाए। गरीबी गई, घर बनवाया। रामायण ३०), ४०), ५०) को बिकती थी। ऐसे ही प्रेमसागर २०) को ३०) को इत्यादि। यहाँ ठाठ कर फिर कलकत्ते चल दिए और वहीं मरे। इनके पास चिट्ठियां अंग्रेजों की अच्छी-अच्छी थीं। उन्हें दिखाकर दयालजी ने एक स्कूल जारी किया।" —बिहारी विहार, भूमिका, पृष्ठ ३३

(ख) हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ४२१—पं० रामचन्द्र शुक्ल

(ग) फोर्ट विलियम कालेज पृ० ९ ०

(सन् १८०१), मोतीराम कृत' ब्रजभाषा रचना पर आधृत 'माधोनल' (सन् १८०१), निवाज (नवाज) कृत ब्रजभाषा ग्रंथ से 'शकुन्तला नाटक' (सन् १८०१), हितोपदेश का ब्रजभाषा अनुवाद 'राजनीति' (सन् १८०२), चतुर्भुज मिश्र कृत ब्रजभाषा रचना पर 'प्रेम सागर' (सं० १८६० ई० मे प्रारम्भ कर सं० १८६६ में पूरा छपा, प्रकाशन काल सन् १८१० ई०), मनोरंजक कहानियो का संग्रह 'लतायफ-इ-हिन्दी' या 'नकलियात हिन्दी' (सन्१८१०), 'जनरल प्रिंसिपल ऑफ इन्फलेक्शन एण्ड कॉन्जुगेशन इन ब्रजभाषा' (सन् १८११), ब्रजभाषा पद्य-संग्रह' 'सभा विलास' (सन् १८१५), ब्रजभाषा गद्य-पद्य-मिश्रित 'माधव विलास' (सन् १८१७) तथा 'लाल चन्द्रिका' (सन् १८१८)। डॉ० ग्रियर्सन ने मसादिर-इ-भाखा शीर्षक व्याकरण के लेखक के रूप मे भी लल्लूलाल (सन् १८०३) का ही उल्लेख किया है।[1] इनके अतिरिक्त गार्सां द तासी और डॉ० ग्रियर्सन ने अपने इतिहास ग्रंथों में कुछ और साधारण ग्रंथों के नाम गिनाए हैं। इस प्रसग मे यह उल्लेख कर देना अनुचित न होगा कि लल्लूलाल ने डॉ० गिलक्राइस्ट के निरीक्षण मे दि ओरिएण्टल फैब्यूलिस्ट (१८०३ ई०) में संगृहीत ईसप तथा अंग्रेजी भाषा की अन्य पुरानी कहानियों का ब्रजभाषा अनुवाद भी किया था[2]।

उक्त सूची से एक बात स्पष्ट है कि लल्लूलाल कृत कोई ग्रंथ मौलिक नहीं है। प्रत्येक रचना का कोई न कोई आधार है और प्रत्येक के प्रणयन के पीछे लेखक की आदर्श भाषा या आदर्श पाठय-पुस्तक प्रस्तुत करने की प्रेरणा बलवती प्रतीत होती है। आधार की दृष्टि से केवल ब्रजभाषा व्याकरण अपवाद स्वरूप माना जा सकता है किन्तु वह भी हिन्दुस्तानी विद्यार्थियों के अध्ययनार्थ रचा गया था जिसका उल्लेख यथास्थान किया जायगा। एक बात और! सामान्यतया लल्लूलाल का ब्रजभाषा और खड़ी बोली पद्य की अपेक्षा गद्य-परम्परा से अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध दृष्टिगत होता है।

अध्ययन की सुविधा के लिए लल्लूलाल की समस्त कृतियों का भाषागत विभाजन किया जा सकता है—ब्रजभाषा ग्रंथ तथा खड़ीबोली ग्रंथ। इस दृष्टि से 'माधव विलास', 'राजनीति' और 'लाल चन्द्रिका' टीका ब्रजभाषा-गद्य में हैं। 'सभा विलास' विभिन्न कवियों के ब्रजभाषा पदो का संग्रह मात्र है। ब्रजभाषा व्याकरण में ब्रज और हिन्दुस्तानी का तुलनात्मक अध्ययन रोमन एव देवनागरी दोनों लिपियों में प्रस्तुत है। शेष ग्रथ खड़ीबोली गद्य में है।

ब्रजभाषा-रचनाएं—माधव विलास—ऊपर कह आये है कि लल्लूलाल के अधिकांश ग्रथो की रचना फोर्ट विलियम कालेज के हिन्दुस्तानी विभाग के अध्यक्षों के निरीक्षण में हुई थी। यह बात प्राय: सभी ग्रन्थों की भूमिका में स्वयं लेखक ने ही स्वीकार कर ली है; किन्तु 'माधव विलास' के सम्बन्ध में लल्लूलाल लिखते हैं—

"श्री गुरुदेव के चरण कमल को ध्यान धर क्रियायोगसार तें माधव सुलोचना की कथा निकारि श्री लल्लूलाल कवि ब्राह्मण गुजराती सहस्र अवदीच आगरेवारे ने उक्ति युक्ति करि गद्य-

---

१. ब्रजभाषा व्याकरण, भूमिका—लल्लूलाल

२. संग्रह में हिन्दुस्तानी, बंगला, संस्कृत, फारसी, और अरबी के अनुवाद अन्य लेखको के है

पद्य ब्रजभाषा मे ग्रंथ बनाय माधव सुलोचना की कथा याम है यासो याको नाम 'माधव विलास' राख्यौ अरु निज छाप घर मे छपवायो सवत १८७४ आश्वन मास मे इति।[1]

फोर्ट विलियम कालेज के हस्तलिखित विवरणों में 'माधव विलास' का कहीं उल्लेख नही मिलता है। कदाचित् इसीलिए डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने 'माधव विलास' की रचना को लेखक का 'स्वेच्छित प्रयास' कहा है।[2] लल्लूलाल द्वारा प्रकाशित 'माधव विलास' (माधो विलास) की एक प्रति इंडिया आफिस लाइब्रेरी लन्दन मे सुरक्षित बताई जाती है। इसके अतिरिक्त यह ग्रथ सं० १९२५ (सन् १८६८) में कलकत्ते से भुवनचन्द्र बसाँक के संस्थापित संवाद ज्ञान रत्नाकर यत्र से भी यंत्रित हुआ था[3]। इतिहास लेखकों में केवल तासी,[4] ग्रियर्सन,[5] 'शिवसिंह सरोज'[6] और प०रामचन्द्र शुक्ल[7] ने इस पुस्तक का उल्लेख किया है। किन्तु तासी का 'माधव' को कृष्ण का पर्यायवाची समझ लेना, ग्रियर्सन का इसके तथा गुजराती लेखक रघुराम कृत 'माधव विलास' नाटक के बीच शंका प्रकट करना तथा प० रामचन्द्र शुक्ल का 'सभा विलास' के समान इसे भी ब्रजभाषा पद्य-संग्रह ही बताना सर्वथा भ्रमपूर्ण है।

वास्तव में 'माधव विलास' गद्य-पद्य मिश्रित रचना है। इसमें 'प्रेमसागर और 'राजनीति की अपेक्षा पद्यांशों की संख्या कहीं अधिक है।[8] कथा का अंश इस प्रकार है:—

"लालध्वज नगर के राजा विक्रम ने राजसभा में आए हुए गोसाई से प्रश्न किया कि संसार में क्या सार-तत्व है और वह कैसे जाना जा सकता है। गोसाई ने उत्तर में संसार के पशु-पक्षी, बनस्पति, मनुष्य आदि सबकी जाति और लक्षण पहिचान कर मन की चंचलता मिटाने पर बल दिया और राजा के पथ-प्रदर्शन के लिए राजा-प्रधान, प्रधान, कचहरी के लूकरा, गमखायक, सरबंगी, कपटी, गाफिल, ढ्यानतदार, बादल चटा हरामी, फूटे कामदार, सभा चतुर, सभा बिगार, हंमतचार, बात सुनैया, मुनशी बेवकूफ सयाने, दातार, लबार, चीढ-दातार, खवीसदातार, सूम, लालची, लराक,

---

१. भुवनचन्द्र बसाक द्वारा प्रकाशित सं० १९२५ के संस्करण में 'अरु निज छापे घर में छपवायो संवत् १८७४ आश्वन मास में इति' पंक्ति नहीं है।

२. आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० २५८—डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

३. प्रस्तुत लेख में उसी संस्करण की सहायता ली गई है। तासी के कथनानुसार सन् १८४३ और १८४६ में यह ग्रंथ आगरे से भी प्रकाशित हुआ।

4. 'Madho Bilas' les piaisis de madho (Krischna)', Poeme, Hindi tradiut du Sanscrits, Agra 1843, in 8° (...Bibliotheca Orientalis', II P. 305 Cet.

5. The modern Vernacular litrature of Hindustan, p. 133-—G. A. Grierson.

६. शिवसिंह सरोज—शिवसिंह सेंगर

७. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ४२१—पं० रामचन्द्र शुक्ल

८. सड़सठ पृष्ठों की छोटी-सी पुस्तक में पृ० ३ से ४२ तक का अंश लगातार पद्यात्मक है और बाद में भी छन्दों का स्फुट रूप में उपयोग कर लिया गया है

स्तक, बेईमानत, चुगल, कोतवाल, धमठग, दगाबाज, खुशामदी, गरजी, हिमायती, ऊँघन, नारी चाकर, हौंसी, नास्तिक, अनाश, सतसंगत आदि के लक्षण दिए है। हे या सोरठे में तथा व्याख्या छप्पय, कवित्त अथवा चौपाइयों में है। उदाहरण पद्य द्रष्टव्य हैं—

कूफ सयाने के लक्षण—

पंच करत परमान, कछु तिन सों कहत अयान।
आपन पुरखा हो परैं, सो बेकूफ समान ॥ ६७ ॥ दोहा
सुनौ बात मेरी सब कोई। सबै बिचारो सो नहि होई।
उत्तर दे तासों अकुलावै। कहै मेरो कोउ मर्म न पावै ॥ ६८ ॥
बिन बूझे केती कहै बानी। सुनत सकल नहि काहु सुहानी।
जहां बिगरै तह गाल बजावै। मूछ मरोरत सब पै आवै ॥
हमकौ तौ पहले यह सूझी। तब तौ बातन काहू बूझी।
सांच सुनत ऐसे दुख लागै। दीनें फूंक आंच जलि जागै ॥७०॥

री के लक्षण—

आसन बहुत बनाय कैं, खात परायौ वित्त।
मिलते मन मिलब नहीं, वे कहं शहरी मित्त ॥ ९६ ॥ दोहा
आप जहां जाय तहां आपन करैं मिलैं कहूँ राह में तो दीठन मिलावैंगे।
जैयै घर वाके मानौ सोग पर्यो ताके कहौ आये इहां काके कछु सौदा लेय धावै
मेरे पुनि एक बड़ो काम है बजार मांझ चलियै अपुनि जाय फेर घर आवैंगे ॥
करि मनुहार वाहि उलटौई सकुचाय न पावत पार ये दर सौं कब पावैंगे ॥९७॥

.न के लक्षण—

ऊघंन पत्थर आलसी कौन सकैं समुझाय।
कुढ़ि कुढ़ि कै छाती पचै, बकि बकि मूंड पिराय ॥२०१॥ दोहा
ऊघत कहतु बात, ऊंघत ही पंथ जातु, ऊंघत ही खातु काज कहै तब जोवै है ॥
जौ पै समुझाय के पठैये कहूँ ताहि पुनि वाहि ठौर जाय कै न चीतौ होय सोवै है।
उजरि बिगरि जाय नाहि कहतु आय कहियै समुझाय तब सीस गहि रोवै है ॥
सूझल न सांझ भोर काहु की न देखैं और ऐसे कौ भरोसौ जो करतु ताहि खोवै है ॥

इस प्रकार 'माधव विलास' की मूल कथा पृ० ४२ से प्रारम्भ होती है। कुछ सम जा विक्रम के माधव नामक पुत्र उत्पन्न हुए। माधव ने एक बार मृगया के लिए जा की पत्नी चन्द्रकला को देखा। वह उस पर मोहित हुआ और प्रेम-प्रस्ताव ा ने उसे सम्बन्ध की दुर्नीति समझा कर प्लक्ष द्वीप की दिव्यवती नगरी में गुणाक । सुलोचना के रूप गुण शील विद्या आदि का उल्लेख कर माधव को सुलोचना के

करने के लिए प्रोत्साहित किया। माधव का सुलोचना से मिलन तो हुआ किन्तु एक नीच सेवक के कारण उसे विरह-व्याधि सहन करनी पड़ी। निराश हो प्राण त्याग की इच्छा से वह गंगासागर गया। संयोग से वहाँ उसका सुलोचना से मिलन हो गया और उसने गांधर्व-विवाह कर लिया। यहाँ के राजा सुसैन को जब सारी कथा ज्ञात हुई तब अत्यन्त प्रसन्न हो उसने अपनी कन्या-जयन्ती तथा आधा राजपाट भी माधव को दे दिया। माधव धर्म और नीति के अनुसार वहाँ राज्य करने लगा और विश्वासघाती सेवक को दीवार में चिनवा दिया। अन्त में लिखा है कि माधव सुलोचना की कथा पढ़ने से गृहस्थाश्रम में सुख प्राप्ति होगी और वह संसार में कभी ठगा नही जायगा।

'माधव विलास' कलेवर की दृष्टि से सड़सठ पृष्ठ की छोटी-सी पुस्तिका है जिसमें तीस से बयालीस पृष्ठ तक का अंश लगातार पद्यात्मक है। विक्रम और गोसाईं के प्रसंग में शान्त रस का प्राधान्य है। पद्यात्मक अंश में नीति, विवेक और वैराग्य का उपदेश ध्वनित होता है। शेष कथा प्रेम प्रधान होने के कारण संयोग एवं वियोग शृंगार परक कही जा सकती है। गद्यांश के बीच मे भी कहीं-कहीं पद्यांश मिश्रित है जो प्राय: दोहा-चौपाई में रचित है। पद्यात्मक अंशों के रचयिता कौन है, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। प्रारम्भ में ही रीतिकालीन कवि मतिराम का प्रसिद्ध सवैया है—"कुन्दन कौ रंग फीकौ लगै, झलकै यह अंग न चारु गुराई......ज्यों ज्यों निहारियै नीरे ह्वै नैननि त्यों त्यों खरी निखरी सी निकाई।" इसके अतिरिक्त अन्य कवियों के छन्द भी यत्र-तत्र दृष्टिगत होते हैं। शेष पदों के रचयिता स्वयं लल्लूलाल भी हो सकते हैं; किन्तु हैं ये पद सर्वथा चमत्कार विहीन। भाषा की दृष्टि से 'माधव विलास' में लल्लूलाल की अन्य ग्रंथों की भाषा की अपेक्षा उर्दू-फारसी शब्दों का प्रयोग अधिक हुआ है, यथा शमशेर, सरंजाम, बेमुरव्वत, मुतफ़र्की। ईमानदार, मस्करा, मुजरा, दगाबाज, चुगल, खबीस, गाफिल, बेवकूफ, खुशामदी, गरजी, हिमायती, पोस्ती आदि। क्रियापदों में खैबे, जैबे, ऐबे आदि पूर्वी शब्द भी उपलब्ध हैं। 'माधव-विलास' के गद्य भाग में तुकान्त युक्त वाक्यों का प्रयोग भी किया गया है। उदाहरणार्थ :—

चोटी लांबी कारी सटकारी जैसे पन्नग की नारी, मांग मोतियन तें संवारी। भाल चंद कौ सौ भाग। तिलक लाल जानौ प्रीतम कौ सुहाग। भौहें बांकी मन मोहें। श्रवण दोऊ सीप से सोहें। दृगन के आगे कंवल मीन मृग खंजन कहा। नासिका कौ देखि तिल फूल औ कीर लज्जित महा।[1]

लेखक द्वारा आधुनिक विराम चिह्नों का प्रयोग नवीन प्रभाव का द्योतक है। इसके अतिरिक्त भाषा की दृष्टि से प्राञ्जल होने के कारण 'माधव विलास' ब्रजभाषा गद्य परम्परा की अन्तिम महत्वपूर्ण उपलब्ध कृति[2] कही जाती है। साथ ही उससे उन्नीसवीं शताब्दी के जीवन के सम्बन्ध में भी अनेक रोचक बातें होती हैं। उदाहरण के लिए लेखक ने प्रारम्भ में ही चार वर्णों के अतिरिक्त हिन्दू समाज की छत्तीस अन्य जातियाँ गिनाई हैं। जैसे—राजपूत, जाट, गूजर, गौराए, अहीर, तेली, तम्बोली, धोबी, नाई, कोली, चमार, चूहरे, खटीक, कुंजड़े, लुहार, ठठेरे, कसेरे, चुरहेरे, लखेरे, सुनार, छीपी, सूजी, धीमर, खाती, कुनबी, बढ़ई, कहार, धुनिये, धानक, काछी, कुम्हार,

---

१. माधव विलास, पृ० ४४-४५

२. आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका पृ० २५ ० वार्ष्णेय

मठियारे, वरियारे, बारी, माली, और मल्लाह। इसी प्रकार दण्डी, संन्यासी, योगी, जंगम, रामावत, नीमावत, वल्लभी, राधावल्लभी, गौड़िये, वैष्णव, विरक्त, नानकपंथी, कबीरपंथी, दादूपंथी, चरणदासी, गूदड़, औघड़, सेवड़े, और जती साधुओं का उल्लेख मिलता है जो कोट की खाई के किनारे ज्ञान की चर्चा और 'रंहट, पैर और ढैंकली लगाय लगाय चलाय चलाय' गीत गाते और उपवन सींचते बनाये गये है। खाई के किनारे के अतिरिक्त मठ, मण्डप, अखाड़े, मंदिर, संगत, देहरे, पौसाल आदि भी उनके निवास-स्थान गिनाये हैं। विवाह के समय ब्राह्मण, नाई, भाट आदि की उपस्थिति बताई गई है। 'माधव विलास' से नगर की बनावट, हाट, देवालय, शिवालय, धर्मशाला, पनघट, बर्तन, पुष्प, व्यापारी आदि सम्बन्धित सूचनाएँ भी प्राप्त होती है।

राजनीति---'राजनीति' ग्रंथ श्री नारायण पंडित के संस्कृत भाषा ग्रंथ 'हितोपदेश' का भावानुवाद है। यह कलकत्ता से सन् १८०९ में प्रकाशित 'राजनीति' की भूमिका में स्वयं लेखक ने स्पष्ट कहा भी है, कि "काहू समें श्रीनारायण पण्डित ने नीति शास्त्रनि तें कथानि का संग्रह करि संस्कृत में एक ग्रंथ बनाय वाको नाम हितोपदेश धर्‌यौ। सो अब श्रीयुत महाराजाधिराज परम सुजान सब गुणखान भागवान कृपानिधान मारक्विस वलिस्ली गवर्नर जनरल्ल महाबली के राज में औ श्री महाराज गुनवान अति ज्ञान जान् गिलक्रिस्त प्रतापी की आज्ञा सों संवत् १८५९ में श्री लल्लू जी लाल कवि ब्राह्मण गुजराती सहस्र, अवदीच आगरे वारे ने वाकों आशय लै ब्रज-भाषा करि नाम राजनीति राख्यौ........अरु संवत् १८६५ माँहि श्री महाराजानि राजा सकलगुन निधान ज्ञानवान जगत उजागर दयासागर प्रजापालक गिलबर्ट लार्ड मिंटो तेजस्वी के राज मध्य अरु श्री निपट गुनज्ञाता महादाता उपकारी हितकारी कप्तान जान् विलयम टेलर नक्षत्री की आज्ञा सों औ श्रीवान धीवान दयायुत डाक्तर विलयम हंटर सहायक की सहायता तें अरु श्री बुद्धिवान सुखदान क्पिटेन ग्रब्राहाम लाकट् रतीवंत के कहे सों वो ही कवि ने राजनीति ग्रंथ छपवायौ पाठशाला के विद्यार्थी साहिबानि के पढ़बे कौ।"[1] 'राजनीति का पूर्ण संस्करण प्रथम बार सन् १८०९ में प्रकाशित हुआ था। द्वितीय संस्करण लै० विलियम प्राइस की देखरेख में १८२७ ई० में छपा तथा तीसरा प्रैस्बिटेरियन मिशन प्रेस, इलाहाबाद से १८५४ ई० में प्रकाशित हुआ।

जैसा हम पहले भी कह आये हैं, 'राजनीति' हितोपदेश पर आधारित ब्रजभाषा ग्रंथ है, अतः विषय की दृष्टि से उसमें कोई उल्लेखनीय विशेषता नहीं है। बीच-बीच में लल्लूलाल ने प्रसंगवश तुलसी,[2] गिरिधर,[3] मतिराम,[4] देव[5] आदि कवियों के पद उद्धृत किये हैं। १८५४ ई० में प्रकाशित राजनीति के संस्करण के भूमिका लेखक ने भ्रमवश ऐसे अधिकांश पदों को संस्कृत के आधार पर रचित समझ लिया है और उनकी भर्तृहरि के नीतिशतक तक से तुलना कर डाली

---

१. राजनीति, भूमिका

२ ३ ४ ५ राजनीति पृष्ठ १२ प० ११ १३ २३ २५ प० १५ १६

है राजनीति मे भाषा की दृष्टि से ब्रज रूप का साफ मे मेरा रूप देखने को मिलता है दो एक उदाहरण द्रष्टव्य है

'१—मैरी तौ यह मनोरथ है। या पर मार्यौ चाहौ ता मारौ। कह्यौ है गृहस्त कौ ऐसौ चाहियै कि वैरी कौ बैरी हू आपने घर आवै तौहू वाकी पूजा करै जैसें वृक्ष कौं कोऊ काटनि आवै तौ वह वाहू पर छांह करै। याते बूढ़े के घर बालक हू पाहुनों आवै तो सेवा-जोग है। अवस्था कौ विचार कछु नाहीं। पाहुनौ घर आवै ताकौ सबतें बड़ौ करि मानियै यथायोग्य पूजा कीजै जो और कछु घर में न होय तौ मीठे बचन तृन कौ बिछौना सीतल जल दै अति हित के मिल बैठे। अरु इतनौहू न करै तो जाके घर तें अतिथि निरास जाय वाकी धर्म लै जाय आपनो पाप दै जाय। यातें साधु निर्गुनहू पर दया करतु हैं। जैसे चन्द्रमा सब ठाम प्रकास करै।—पृ० १९

२—श्रीपर्वत मे ब्रह्मपुर नाम नगर। अरु वा पहाड़ की चोटी पै एक घटाकरन नाम राक्षस रहै। सो वा नगर के निवासी सब जानैं क्योंकि वाकौ शब्द सदा सून्यौ करैं। एक दिन नगर में तें चोर घंटा चुराय गिर पर लिये जातु हो। ताहि तहां बाघ ने मारि खायौ अरु वह घटा बानर के हाथ आई। जब वह बजावै तब नगर निवासी जानैं कि राक्षस डोलतु है। काहू दिन कोउ वाहू मरे मनुष्य को देखि आयौ। तिन सब तें कह्यौ कि अब घंटाकरन रिसाय के नर खानि लाग्यौ। यह मैं स्व दृष्टि देखि आयौ। वाकी बात सुनि मारे भय के नगर के सब लोग भजबे लागे।—पृ० ५७

यहां यह बता देना अप्रासंगिक न होगा कि 'राजनीति' के बाद के संस्करणों में अंग्रेज सम्पादकों ने शब्दों के परिवर्त्तन, परिवर्द्धन अथवा बहिष्कार, पदांश या वाक्य रचना में क्रम-परिवर्तन, विराम-चिह्नों के प्रयोग मे संशोधन और व्याकरण सम्बन्धी सुधार करने में संकोच नही किया है।[२] उदाहरण के तौर पर १८२७ ई० के संस्करण में ले० विलियम प्राइस ने अंग्रेजी

---

१. "It may be remarked that most of these excerpts, as well as other metrical passages dispersed through the work, although vernacular common place, are obviously derived from the Sanskrit. In other words, they are imitations and almost invariably for the worse, eg. compare the verses at pp 11, and 12 with 52nd stanza of Bhartrihari's Niti-shataka." see—Editors Preface, 'Rajaniti—Presbytarian mission Press, Allahabad, 1854

२. "Departure from the edition of 1809, in suppressing a word when plainly superfluous, in inserting one for the purpose of changing the sense, and in changing a term, or the order of a sentence, when awkward, obscure or unnatural reformed Lallulal's punctuation, corrected and methodized his spellings and rectified few Japses of Grammar.—Rajaniti Preface (Revised edition) Rev L G Hay Suptt Presbytarian mission Press Allahabad 1854

विराम चिह्नों के उपयोग पर बल दिया था।[1] और १८५४ ई० के संस्करण मे सम्पादक ने लल्लूलाल द्वारा प्रयुक्त 'यदभक्ष' (पृ० ११३–१–६) तथा अन्य स्थल नाम को सुधार कर 'यद्भविष्य' कर दिया है। साथ ही कतिपय स्थलों पर वाक्यों में क्रम-परिवर्त्तन भी किया गया है यथा 'प्रीति करवाई स्यार ने' (पृ० ४३–१–७) 'बरध गिरयाें पाधार खाकै' (पृ० ४५–१–३) तथा 'कित जातु है चल्यौ' '(पृ० ६८–१–४) के क्रम से 'स्यार ने प्रीति करवाई' 'पछार खाय बरध गिरयौ' और 'कित चल्यों जातु है' कर दिया गया है। एक स्थल पर उदयाचल परबत बसन सूरज के उदै भये सर्व वस्तु सूरज' (पृ० ७–१–९) से 'बसन' को अनावश्यक समझ कर हटा दिया गया है।[2] किन्तु ऐसे स्थल अनेक नही हैं।

इसमें सन्देह नही कि 'राजनीति' संस्कृत के हितोपदेश का भावानुवाद होने के कारण हिन्दी गद्य साहित्य मे महत्त्वपूर्ण स्थान पाने योग्य नहीं है। किन्तु तत्कालीन ब्रजभाषा गद्य-परम्परा और समय की आवश्यकता को देखते हुए अपनी प्रांजलता एवं सजीवता तथा कलेवर सम्बन्धी उपयोगिता के कारण वह अंग्रेज विद्यार्थियों और शिक्षकों की अत्यन्त प्रिय और सुपाठ्य पुस्तक रही। विलियम प्राइस ने ११ सितम्बर १८२६ ई० को रडैल के पास जो पत्र भेजा था उसमे हिन्दुस्तानी डाएलेक्ट' में रचित राजनीति को अंग्रेजों के भारतीय शासन के लिए अत्यन्त उपयोगी बताया था। सरकारी स्वीकृति प्राप्त होने पर तदनुसार ७ मार्च १८२७ को राजनीति के द्वितीय संस्करण की सौ प्रतियां छपकर कालेज लाइब्रेरी में आई थी।'[3], उनके लिए इसकी महत्ता के दो कारण थे। एक तो यह आदर्श ब्रजभाषा का रूप प्रस्तुत करती थी जो शैली मुहावरेदानी और भाषा की आत्मा की दृष्टि से प्राप्त गद्य-ग्रंथो में बेजोड़ थी। और दूसरे इसमें भारतीय रीति-रिवाज और नीति की विशिष्टताएँ अंकित थी।[4] कदाचित इसी उद्देश्य से

---

१. फोर्ट विलियम कालेज, पृष्ठ १४३—डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

२. Rajaniti—Preface (Revised Edition) 1854.

३. Proceedings of the College of Fort William, 15th Jan. 1825-26th Dec. 1826. Home misc. Vol. 10. P. 553-555.

४. "The Value which (Rajaniti) it bears is two-fold, as exhibiting the language of Braj, and as illustrating Indian peculiarities of opinion and customs. In exempting himself from the trammels of a literary rendering, the writer can Scarcely in the article of style, be less natural or idiomatic than he would have been under other circumstances and any substitution of matter, which he may have introduced, must as coming from a native of India, of course, be characteristic of the country. On comparison of his present work with a large number of prose compositions in the Braj Bhasha I make no hesitation in giving it a decided preference to any and all of them Rajaniti Revised edition 1854

इस पुस्तक की रचना हुई थी और फोर्ट विलियम कालेज में वर्षों तक यह पाठ्य पुस्तक रूप में स्वीकृत रही इस दृष्टि से राजनीति के एतिहासिक एवं साहित्यिक महत्व की उपेक्षा नहीं की जा सकती ।

सभाविलास—लल्लूलाल द्वारा सम्पादित 'सभाविलास' हिन्दी साहित्य के प्रसिद्ध कवि अमीर खुसरो, तुलसी, केशव, रहीम, बिहारी, वृन्द, गिरिधर आदि के पद भक्तिमार्ग, दृष्टान्त, परखाने, प्रेम, नेत्र, श्लेष, प्रश्नोत्तर, कुण्डलियाँ, बरवा, अरल, छप्पय, पहेली, मुकरी, हियहुलास आदि शीर्षक विषयों के अन्तर्गत आबद्ध हैं। 'हियहूलास' में राग रागनियों के स्वरूप एवं लक्षण गीत हैं। पुस्तक के प्रारम्भ में 'मूषक वाहक गणेश' की स्तुति है।

सभाविलास का प्रथम संस्करण फोर्ट विलियम कालेज के संरक्षण में सन् १८१५ में निकला था। इस सम्बन्ध में स्वयं लेखक की उक्ति है—

रव ऋषि बसु चन्द्र गहि गनौ संवत् कौ परमान ।
माघ सुक्ल नवमी रच्यौ, कियौ ग्रंथ निर्मान ।। ३ ।।[1]

जनवरी में जब यह छपकर तैयार हुई तो ले० विलियम प्राइस ने इसे सैनिक विद्यार्थियों के ब्रजभाषा पढ़ने के लिए पाठ्य-पुस्तक के रूप में अत्यन्त उपादेय कह कर जोरों-शोरों से इसका प्रचार करना आरम्भ कर दिया। फलतः २६ जनवरी १८१५ को सरकार ने उसे पाठ्य-पुस्तक स्वीकार कर लिया ।[2] इसका द्वितीय संस्करण स्वयं विलियम प्राइस के सम्पादन भार में १८२८-१८२९ ई० में एज्यूकेशन प्रेस से छपा था।[3] संग्रह करते समय लल्लूलाल ने विषय की स्वच्छता के साथ भाषा की सरलता पर भी बराबर ध्यान दिया है। कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य है :—

१—अपनी प्रभुता को सबै बोलत झूठ बनाय ।
बेश्या बरष घटावही जोगी बरष बढ़ाय ।।७४।। दृष्टान्त[4]
२—नीकौ बिरह समीप तें जा में मिलन की आस ।
कहियै भलो संयोग क्यों जा में बिछुरन त्रास ।। १७८ ।। अथप्रेम[5]

---

१. सभा विलास, पृष्ठ ३६

२. Proceedings of the college of Fort William, 13th June 1814—12th Feb. 1816, Home Misc. Vol. 5. P. 312-314.

३. पुस्तक के मुख पृष्ठ पर अंग्रेजी में १८२८ दिया गया है और अन्दर हिन्दी में 'फोर्ट विलियम के कालिज के हिन्दी और हिन्दुस्तानी अध्यापक कप्तान उलियम प्राइस साहिब ने छपवाया संस्कृत पाठशाला के छापेखाने में- कलकत्ता- १८२९ ई०' दिया है।

४ ५ पृष्ठ ८, १९

३ प्रीतम ननन मे गिरी जिन ननन की सैंन
फिर काढ़न को चाहिये वेई तीखे नैन ॥ १९१ ॥ अथ नेत्र[१]

४—मोती लेने पी गये खार समुन्दर तीर।
मोती मिले न पी मिले नैननि टपकत नीर ॥
नैननि टपकत नीर पीर अब कासों कहियै ।
बीते बारह मास पिया बिन घर ही रहियै ।
कह गिरिधर कविराय सांझ डारति सग नौती ॥ कुडलियां[२]

५—नर नारी हम एकै दीठै ।
जौ जौ बोलै त्यों त्यों मीठै ।
एक न्हाय एक सेकनहारा ।
कह खुसरो नहिं कीन्ह नगारा ॥ नगारा ॥ पहेली[३]

६. मालकौस स्वरूप वर्णन

६—मालकोस लीलै वसन सेत छरी है हाथ ।
मोतिन की माला गरें सिगरी सखिया साथ ॥३६॥ दोहा ॥[४]
कौसिक की उपमा है भली, तन गोरे बिराजत है पट लीलौ ।
माल गरै कर सेत छरी रस प्रेम छक्यौ जिय छैल छबीलौ ।
नागरि रूप उजागरि लै संग डोलत है सुख सों गरबीलौ ।
कामिनि कौ मन मोहत है मन भावन रूप अनंग रसीलौ ॥३७॥ सवैया[५]

रागिनी स्वरूप

टौडी कर बीना गहै गावति पिय के हेत
चंचल छवि मृगलोचनी पहरे वस्तर सेत ॥३८॥
गौरी छवि अति सांवरी अंब कोप धरे कान ।
तिरषा तन तप काम की गावत मीठी तान ॥३९॥
छुटे केस तन गुनकली बैठी पिय के पास ।
नीची ग्रीवा करि रही अति ही चित्त उदास ॥
खंबावति गोरे बदन गावति कोकिल बैन ॥
अति आतुर चातुर खरी कामवंत दिन रैन ॥
कोकब कामिनि निस समै जागी पिय को संग ।
रति मानै कै छीन तन अंग अंग में रंग ॥हिल हुलास ॥[६]

तात्पर्य यह है कि काव्य-संग्रह की दृष्टि से सभा विलास अत्यन्त सफल प्रयास सिद्ध हुआ । उधर फोर्ट विलियम कालेज टूटने (सन् १८५४) के बाद जब पब्लिक सर्विस की स्थापना हुई

---

१ ६ सभा विलास पृ० २० ४३ ६५ ७८ ७९

तथा भाषा सम्बन्धी योग्यता घोषित करने के लिए बोर्ड आफ एक्जामिनर्स बनाता आनर्स की उपाधि के लिए निर्धारित हिन्दी पाठ्य क्रम में सभा विलास को भी स्थान प्राप्त हुआ और इधर हिन्दी साहित्य क्षेत्र में यह पुस्तक अपनी अभिनव संग्रह शैली की मौलिकता के कारण इतनी प्रसिद्ध हुई कि राजा शिवप्रसाद के 'गुटके' आदि संग्रह इसकी छाया पर बने।

लाल चन्द्रिका——लाल चन्द्रिका बिहारी सतसई के आजमशाही क्रम[1] के अनुसार उसी ग्रथ पर टीका है। यह ग्रंथ लल्लूलाल ने संवत् १८७५ माघ सुदी ५ शनि को समाप्त कर सन् १८१९ मे स्वयं अपने छापेखाने में छपवाया था। इसका एक संस्करण सन् १८६४ में लाइट प्रेस ने पं० अम्बिकादत्त व्यास के पिता दुर्गादत्त के संरक्षण मे भी मुद्रित एवं प्रकाशित हुआ था। 'लाल चन्द्रिका' रचना के समय स्वयं लल्लूलाल ने लिखा है कि, 'अब सम्बत १८७५ मे अमर चन्द्रिका, अनवर चन्द्रिका, हरिप्रकाश टीका, कृष्ण कवि की टीका, कवित्त वाली कृष्णलाल की टीका, पठान की टीका, कुंडलियों वाली, संस्कृत टीका, ये सात बिहारी सतसई की टीका देख-विचार, शब्दार्थ औ भावार्थ औ नायका-भेद औ अलंकार उदाहरण समेत उक्ति-युक्ति से प्रकाश करि 'लाल चन्द्रिका टीका बनाई और छपवाई निज छापेखाने में श्रीमान धीमान पण्डित कवि रसिक हरि भक्तो के आनंदार्थ।' इस प्रकार 'लाल चन्द्रिका' टीका-प्रणयन के समय टीकाकार के समक्ष यद्यपि हरिप्रसाद कृत 'आर्यागुम्फ' (रचना काल सं० १८३७) तथा 'संस्कृत टीका' (रचना काल—सं० १८४४) दोनों ग्रंथ विद्यमान थे परन्तु पं० अम्बिकादत्त व्यास का अनुमान है कि लल्लूलाल ने संस्कृत टीका से ही अधिक सहायता ली है।[2]

वस्तुतः 'लाल चन्द्रिका' सुरतिमिश्र कृत 'अमर चन्द्रिका' (रचनाकाल सं० १७९४) पर आधारित टीका ग्रंथ है। अमर चन्द्रिका दोहा-सोरठों में है। लल्लूलाल ने गद्यार्थ हरिचरण-दास के हरिप्रकाश (रचना काल सं० १८३४) से ले लिया है तथा प्रश्नोत्तर के दोहे तथा अलंकार के दोहे प्रायः सुरतिमिश्र के उठाये है। ग्रंथ के अन्त में काव्य-भेद पर रचित दोहे भी कृष्ण कवि (स० १७१९-१७७९ के लगभग वर्त्तमान) के हैं।[3] टीका-ग्रंथ की दृष्टि से 'लाल चन्द्रिका मे कोई नूतन विशेषता दृष्टिगत नही होती। किन्तु जैसा कि पं० अम्बिकादत्त व्यास ने कहा भी है लल्लूलाल ने बिलक्षण कार्य यह किया कि 'दोहे के शब्द क्रम के अनुसार अर्थ रखा है। इनके ग्रंथ में शंका समाधान भी अच्छे हैं। यद्यपि सुरति मिश्र आदि के ग्रंथ देखने के पश्चात् ये शंका समाधान भी विलक्षण प्रतीत नहीं होते फिर भी कतिपय स्थलों पर स्वकल्पित होने से सुन्दर बन पड़े है। इसके अतिरिक्त 'लाल चन्द्रिका' तथा उसके ब्रजभाषा गद्य को आद्योपान्त पढ़ने पर लेखक के व्यक्तित्व तथा उसके भाषा-ज्ञान-सम्बन्धी कतिपय विशेषताएँ उभर आती है जिनका उल्लेख अनिवार्य है।

लल्लूलाल ने 'लाल चन्द्रिका' के प्रारम्भ में 'श्री राधावल्लभो जयति' मंगलाचरण दिया

---

१. औरंगजेब के तृतीय पुत्र सुलतान आज़मशाह द्वारा नियत नायक नायिका भेद पर आधारित दोहों का क्रम।

२ बिहारी विहार भूमिका पृष्ठ ४१

३ बिहारी विहार भूमिका पृष्ठ ३५

है तथा अन्त में राधा-कृष्ण प्रसादात् सम्पूरणम् लिखा है। इसके अतिरिक्त उन्होंने कृष्ण-चरित पर भी विशेष रूप में लिखा है इसलिए इनको राधावल्लभ सम्प्रदाय का वैष्णव अनुमानित किया जाता है। दूसरे इनके लेख मे संस्कृत-भाषा-ज्ञान की दुर्बलता प्रकट होती है। उदाहरण के तौर पर उनकी देख-रेख में छपे ग्रंथ में इस प्रकार मिलता है।' 'यौवन' के लिए 'यौंवन' (दोहा ४५६ की टीका) 'वृत्यनुप्रास' के लिए 'वृत्यानुप्राम' (दोहा ४५५ की टीका) 'तात्पर्य' के स्थान पर 'तातपर्य' तथा 'परीक्षा' की जगह 'परिक्षा' (दोहा २९३ की टीका) एवं 'नायिका' के लिए तो प्रत्येक दोहे मे 'नायका' दिया गया है। ग्रथ के अन्त में दो पंक्तियाँ संस्कृत की और मिलती है,' इति श्री कवि लाल बिरचित लालचन्द्रिका बिहारी सतसई टीका प्रस्ताविक अन्योक्ति नवरस नृप स्तुति वर्णन नाम चतुर्थ प्रकर्ण श्री राधा-कृष्ण प्रसादात् सम्पूरण ग्रन्थ निर्विघ्न समाप्तं शुभस्तु ।।

लल्लूलाल को यद्यपि ब्रजभाषा का पर्याप्त ज्ञान था किन्तु पाण्डित्य प्रदर्शन की धुन मे आपने अनेक 'सरकारों' को पुनः 'शकार' बनाकर "शौन के शड़क्के ' झाड़े हैं' : उदाहरणार्थ दोहा ७१५ में 'ससि वदनी' का 'शशि वदनी मौसों कहत' तथा दोहा ६२० मे 'शीतल ताक सुगन्ध की घटै न महिमा सूर। पीत सवारे जो तज्यौ शोरा जानि कपूर' कर दिया है। ब्रजभाषा में तालव्य 'श' मूर्द्धन्य 'ष' दन्त्य 'स' का आकार ग्रहण कर चुके हैं। पं० लल्लूलाल ने उसे फिर से 'श' और त-वर्गीय 'न' को बदल कर यथास्थान टवर्गीय 'ण' करने का इतना जागरूक प्रयत्न किया कि बाद मे मुशी नवलकिशोर और पण्डित रामजसन प्रभृति विद्वानों में ब्रजभाषा को इसी संशोधित प्रणाली पर चलाने का प्रयास किया। पं० अम्बिकादत्त व्यास का कहना है कि 'फिर शिक्षा-विभाग के ब्रजभाषान भिज्ञ लोगों ने बालकों के पढ़ाने के लिए कितने ही ग्रंथ इसी ढंग पर चलाए और डिप्टी साहबों की आज्ञा से गुरुजी लोग मार-मार कर बच्चों को इसी कुरस्ते चलाने लगे सो यह बड़ा ही अनर्थ चारों ओर फैलता जाता है। बिहार मे यह अनर्थ होता देख यहां के प्रसिद्ध खंगबिलास छापे खाने के अध्यक्ष से भी मैंने यह विषय कई बेर कहा और अपने मासिक पत्र 'पीयूष प्रवाह' में भी छापा, अनन्तर खंग बिलास के अध्यक्ष महाराज कुमार बाबू रामदीन सिंह ने कहा कि हमको ग्रीयर्सन साहब के द्वारा श्री तुलसीदास जी लिखित रामायण मिलती है उसके देखने से आपकी बात और दृढ़ हुई क्योंकि उसमें बहुत 'श' और 'ण' नहीं हैं। ठीक जैसा आप कहते हैं वैसा ही है पर क्या किया जाय, कोई सड़ा सा डिप्टी इंस्पेक्टर भी इन बातों को समझता तो कुछ भाषा का शोधन होता।'[1] यही नही ब्रजभाषा में जिन 'यकारों' का जकार हो चुका था उन्हें लल्लूलाल ने फिर से 'यकार' बनाने का यत्न किया है। जैसे दोहा २० में 'यौवन नृपति', दोहा २१ में 'यौबन आमिल' दोहा २२ मे 'योबन जेठ दिन' तथा तदपि, यद्यपि, यश, अपयश, यमकरि, युवति, योग, रिक्ति आदि। इस प्रकार के साग्रह संशोधनों से भाषा को निस्सन्देह पर्याप्त क्षति पहुँची और परवर्ती लेखकों एव विद्यार्थियों का उचित मार्ग निर्देश न हो सका।

ब्रजभाषा व्याकरण---लल्लूलाल विरचित 'जनरल प्रिंसिप्लस ऑफ इन्फलेक्शन एण्ड कन्जुगेशन इन द ब्रजभाषा' शीर्षक व्याकरण कैप्टेन जान विलियम टेलर, हिन्दुस्तानी प्रोफेसर (फरवरी १८०८-मई १८२३) फोर्ट विलियम कालेज की अध्यक्षता में सर्वप्रथम पहली मई, सन्

१ बिहारी बिहार भूमिका पष्ठ ३३ ३४

१८११ म इण्डिया गजट प्रस, कलकत्ता से प्रकाशित हुआ था। इसके मुद्रण आर प्रकाशन के सम्बन्ध मे २४ जनवरी, १८१० ई० को टेलर ने कौंसिल के मंत्री विलियम हंटर को अपने पत्र के साथ 'हिन्दी मुंशी' लल्लूलाल का एक प्रार्थना पत्र भेजा था।[1] हिन्दुस्तानी भाषा के ज्ञान के लिए यह रचना अत्यन्त उपयोगी बताई गई और इस ग्रंथ की पृष्ठ संख्या पचहत्तर चौपेजी तथा मूल्य चार रुपये चौदह आने फी प्रति रखा गया था।[2] इस सम्बन्ध में २६ जनवरी १८१० ई० को सरकार ने मुशी लल्लूलाल कृत 'दि ग्रैमैटिकल प्रिंसिपल्स् आफ ब्रजभाखा' के लिए आर्थिक सहायता देना भी स्वीकार कर लिया।[3] प्रकाशित ग्रंथ की एक प्रति नेशनल लाइब्रेरी कलकत्ता में सुरक्षित बताई जाती है। प्रथम संस्करण के अत्यल्प संख्यक[4] होने तथा पुनर्प्रकाशित न होने के कारण यह बहुत समय तक अप्राप्य रहा। सन् १९२७ ई० में आगरा विश्वविद्यालय, हिन्दी विद्यापीठ प्रकाशन द्वारा यह 'हिन्दी-विद्यापीठ ग्रंथ वीथिका' में पुन. ज्यो का त्यो प्रकाशित हुआ है।[5]

जैसा कि व्याकरण के मुख-पृष्ठ से स्पष्ट ही है लल्लूलाल ने इसे हिन्दुस्तानी विद्यार्थियो के लाभार्थ रचा था।[6] व्याकरण आद्योपान्त अंग्रेजी में है जिससे ज्ञात होता है कि वह अंग्रेजी भाषी विद्यार्थियों के लिए लिखा गया था। व्याकरण सम्बन्धी पारिभाषिक शब्द भी उर्दू फारसी के हे। इससे संकेत मिलता है कि वे विद्यार्थी हिन्दी के पारिभाषिक शब्दों से अवगत न थे; यथा आस्मा (संज्ञा) जमाइर (सर्वनाम) मुतकल्लिम (प्रथम पुरुष) हाजिर (मध्यम) गाइब (अन्य पुरुष) आस्मा ऐशार (निश्चय वाचक सर्वनाम) करीब इस्तिफहाम (प्रश्नवाचक सर्वनाम) सिफ्त ओ मौसूम (विशेषण) हालि मुतशक्की (कर्तृवाच्य क्रिया) आदि ग्रंथ की भूमिका में लेखक ने ब्रजभाषा व्याकरण प्रस्तुत करने से पूर्व भाषा की उत्पत्ति, विकास तथा हिन्दुस्तान की विभिन्न बोलियों से उसका साम्य दिखाते हुए, कृष्ण कवि, केशव, कुलपति मिश्र, बिहारी आदि प्रसिद्ध कवियों के पद्यांश उद्धृत किये हैं। हिन्दी में 'ड' और 'द' का 'ड' और ढ़" से उच्चारण का अन्तर स्पष्ट करते हुए लेखक ने 'प' के स्थान भेद से 'ष' और 'ख' दोनों उच्चारण शुद्ध बताये हैं। साथ ही ल, ड, व, य, श, क्ष, भ, म, भ, ग, थ, त, ष, य, ये, अ, प, आदि को क्रम से र, र, ब, ज्ञ, स, छ,

---

१, २, ३. Proceedings of the college of Fort William 25th March 1809-10th July 1811—Home Misc. Vol. III. P. 182, 182-184.

४. प्रारम्भ में संभवतः इसकी केवल सौ प्रतियां छपी थीं—फोर्ट विलियम कालेज, पृ० १०३—डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय,

५. प्रस्तुत पुनर्मुद्रित पुस्तक का आधार नेशनल लाइब्रेरी कलकत्ता में सुरक्षित है।

6. General Principles of Inflection and conjugation in the Braj Bhakha.

or

The language spoken by the Hindoos in the country of Braj in the District of Goaliyar, in the Dominions of the Raja of Bharutpoor, as also in the extensive countries of Bueswara Bulundawar, untur and Boondelkhand 'Composed for the use of the Hindoostanee students'—by shree Lalloo Lal Kuvi Bhakha Moonshee in the college of Fort William

व, व व, घ, त, थ, क, २, ए, य, ख आदि से परिवर्त्तनीय माना है, और उदाहरण—स्वरूप जाली-जारी, थाली-थारी, घोड़ा-घोरा, घड़ा-घरा, वन,-बन, वसुदेव, बसुदेव यमुना-जमुना, यस-जस, शख-सख, शिशु-सिसु, अक्षर-अछर, लक्ष्मी-लछमी, गांम-गांव, नांम-नांव, इमली-इंबली, कम-कब., कमी-कबी, पगड़ी-पघड़ी, पगा-पघा, रथ-रत, भरत-भरथ, योतिशी-योतिकी, योतिष-योतिक, यह-इह, आये-आऐं, लाये-लाऐ किया-किआ दिया-दिआ, पट-खट, षष्टी-खष्टी, येही-येई, तूही-तूई, तुहे-तूअे, तुक-तुज आदि शब्द प्रस्तुत किये हैं। लेखक ने भूमिका में खडीबोली तथा ब्रजभाषा का अन्तर स्पष्ट करने के लिए वर्तमान, भूत और भविष्य कालिक क्रिया-परिवर्त्तन तथा सर्वनाम भेद देकर दोनों भाषाओं के पद्यांश भी दिये हैं। कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य है :—

	Hindee		B, hak, ha
Sing.	मैं हुआ	I became	मैं, हौं भयौ
	मैं, तू हुआ	Thou becomest	तैं, तू भयौ
	वह हुआ	He became	वह, सो भयौ
Plu. Masc.	हम हुये थे	we had been	हम भये थे
	तुम हुये थे	You had been	तुम भये थे
	वे हुये थे	They had been	वे, ते भये थे
Sing. Fem.	मैं होउंगी	I shall or will be	मैं, हौं होउंगी, ह्वैहौं
	तैं, तू होवेगी	Thou shalt or will be	तू, तैं हौयगी ह्वै है
	वह होवेगी	She shall, or will be	वह, सो होयगी, ह्वै है

खड़ी बोली के उद्धृत सर्वनाम और विशेषणों में तिसका, तिससे, किसका, क्यौ, जिनने, भले आदि विशेष रूप में उल्लेखनीय हैं। मुख्य ग्रंथ डा० गिलक्राइस्ट के हिन्दी-रोमन-आर्थोएपिग्रैफिकल वर्णमाला से प्रारम्भ होता है। इसके पश्चात् संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, कर्तृवाच्य एवं कर्मवाच्य क्रिया, कालवाचक क्रियाओं आदि के विभिन्न विभक्ति रूप एवं रूपान्तरण दिये गये है, जैसे—

आस्मा

हाल्नि	वाहिद	जमऊ
फाइल	पोथी	पोथी
इजाफ़त	पोथी कौ, के, की	पाथीन, पाथियन, कौ के, की
मफ़ऊल	पोथी कौं	पोथीन, पोथियन-कौं
निदा	हे पोथी	हे पोथियों

मौसूल

फाइल	जो, जौन	जै
इंजाफत	जाकौ के की	जिन जिननि कौ के-की
	जा कौं जाहि	जिन जिननि कौं जिन्है

हालि मुतअक्की

मुतकल्लिम	हौं, मैं मारतु होउगो, हौं हों	हम मारत होयगे ह्वै हैं
मुखातब	तू, तैं मारतु होवगौ, ह्वै है	तुम, तैं मारत होगयो ह्वैं है
ग़ाइब	वह, सो मारतु होगयो, ह्वै है	वे, ते मारत होंयगे, ह्वैं है

प्रस्तुत ब्रजभाषा व्याकरण का अपना ऐतिहासिक महत्त्व भी है। डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने मीरजा खाँ इब्न फ़ख़रुद्दीन मुहम्मद विरचित 'तुहफ़ तुलहिंद' नामक पुस्तक में उपलब्ध भाखा-व्याकरण को ब्रजभाषा का ही नही अपितु आधुनिक भारोपीय देशी भाषाओं का सबसे पुराना व्याकरण बताया है। डॉ० चाटुर्ज्या के अनुसार जेकब जोशुआ केटेलिएर की 'हिन्दुस्तानी ग्रामर' तथा पादरी मनोएल द अस्सम पश्म की 'बंगाली ग्रामर' से मीरजा खाँ का व्याकरण भली प्रकार समानता कर सकता है। मीरजा खाँ का व्याकरण १६७६ ई० में तथा पाश्चात्य लेखकों के दोनों व्याकरण १७४३ ई० में प्रकाशित हुए थे। मीरजा खाँ, केटेलिएर और लल्लूलाल के बीच शुल्ज का 'हिन्दुस्तानी व्याकरण' (प्रकाशन काल सन् १७४५) भी उल्लेखनीय है।[1] किन्तु जहां तक ब्रजभाषा व्याकरण का सम्बन्ध है मीराजा खाँ के बाद लल्लूलाल का ही नाम आता है और इसे आधुनिक काल मे रचित ब्रजभाषा का प्रथम व्याकरण कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त भाषा विज्ञान के इस युग में लल्लूलाल कृत ब्रजभाषा व्याकरण भाषा के ऐतिहासिक एवं वैज्ञानिक अध्ययन के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और उपयोगी सामग्री प्रस्तुत करता है।

खड़ीबोली-रचनाएँ--लल्लूलाल विरचित ब्रजभाषा ग्रंथों तथा संग्रहों का अध्ययन करने के उपरान्त उनके 'सिंहासन बत्तीसी' 'बैताल पच्चीसी', 'शकुन्तला नाटक', 'माधोनल', 'प्रेमसागर और 'लतायफ़-इ-हिन्दी' छह ग्रंथ विचारणीय रह जाते हैं।

'सिंहासन बत्तीसी', 'बैताल पच्चीसी', 'शकुन्तला नाटक' और 'माधोनल' के प्रणयन के सम्बन्ध में लल्लूलाल ने अपनी आत्मकथा में इस प्रकार लिखा है कि, 'एक दिन साहिब ने कहा कि 'ब्रजभाषा में कोई अच्छी कहानी हो उसे रेखते की बोली में कहो। 'मैंने कहा,' बहुत अच्छा, पर इसके लिए कोई पारसी लिखने वाला दीजे, तो भली भाँति लिखी जाय।' उन्होंने दो शाइर मेरे तैनाथ किये, मजहर अली खान 'विला' और क़ाजिम अली 'जवां' एक बरष में चार पोथी का तरजुमा ब्रजभाषा से रेखते की बोली में किया। सिंहासन बत्तीसी, बैताल पच्चीसी, शकुन्तला नाटक और माधोनल। सं० १८५७ में आजीविका कपनी के कालिज में स्थित हुई। इसे उन्नीस बरस हुए। इसमें जो पोथिया ब्रजभाषा और खड़ीबोली औ रेखते की बनाई सो अब प्रसिद्ध है।'[2] इस कथन से यह प्रतीत होता है कि लल्लूलाल स्वयं इन चारों ग्रंथों के प्रधान रचयिता थे और' विला' तथा 'जवां' सहायक मात्र थे। किन्तु इन ग्रन्थों की भूमिका और कालेज के विवरणों का सूक्ष्म अध्ययन करने पर वस्तुस्थिति कुछ और ही लक्षित होती है। अतः अन्तिम निष्कर्ष पर पहुँचने से पूर्व प्राप्त सामग्री का पर्यालोचन अत्यन्त आवश्यक है।

---

१ See—Proceedings of the Asiatic Society of Bengal May 1895

२ **लाल चन्द्रिका भूमिका १८१८**

१९ अगस्त, १८०२ ई० को गिलक्राइस्ट ने जो पुस्तक-सूची कालेज कौंसिल के पास भेजी थी उसमें 'सिंहासन बत्तीसी' और 'शकुन्तला नाटक' का रचयिता केवल मिर्जा काजिम अली' 'जवां' ओर बैताल पच्चीसी 'तथा 'माधोनल' का प्रणेता केवल मजहर अली खाँ 'विला' बताया गया है।[१] विलियम हंटर के ७ मार्च १८११ ई० के पत्र में भी रचयिताओं के नाम में लल्लूलाल का नाम नही मिलता।[२] किन्तु कालेज के विवरणों में कहीं-कही चारों ग्रंथों में से किसी एक अथवा दूसरे के सम्बन्ध में मात्र लल्लूलाल या 'जवां, या 'विला' में से किसी एक के साथ लल्लूलाल का नाम मिल जाता है।[३] इसके अतिरिक्त 'जवां' साहिब ने भी 'शकुन्तला नाटक' की भूमिका में कहा है कि, अब यिह हेचमदान, हर सगीर ओ कबीर की दर्याफत् के लिये इस रोजगार के, सरिश्ते से, कि सरकार मे कम्पनी बहादुर (दाम इक़बाल्हु) की मुकर्रर हुआ, बयान करता है। कर्नल स्कोट साहिब, जो लखनऊ के बड़े साहिब हैं, उन्होंने हस्बुत्तलब गवर्नर जनरल बहादुर (दाम मुल्कुहू) के, सन् इ अठारह-सौ ईसवी में ...... उन्होंने (जान गिलक्रिस्त साहब बहादुर) निहायत मिहरबानी ओ अलताफ़ से इर्शाद फरमाया कि, 'सकुन्तला नाटक का तरजुमा अपनी जबान के माफिक कर' और....लल्लूजीलाल कब को हुक्म किया कि बिला नाग लिखाया करे....सन् इ अठारह सो एक ईसवी मुताबिक सन् इ बारह सौ पन्द्रह हिजरी के जनाब इ जान गिलक्रिस्त साहब बहादुर (दाम जिल्लुहू) के हस्बुल हुक्म, काजिम अली 'जवां' ने इसे जवान-इ-रेख़्त: में बयान किया।' अन्त में जवां ने कहा कि 'अब यिह कहानी यहां तमाम हुई।'[४] डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने 'शकुन्तला नाटक' की फारसी लिपि में अंकित हस्तलिखित प्रति से अन्तिम अंश का जो पाठ उद्धृत किया है उसमें भी केवल 'जवां' का ही नाम मिलता है।[५] इसके अतिरिक्त ग्रंथ के पद्यात्मक अंश भी 'जवां' की छाप लिए हैं।[६]

इसी प्रकार बैताल पच्चीसी की भूमिका मे भी कहा गया है कि '.. .. मजहर अली खानि शाहर ने जिस का तखल्लुस विला है, वास्ते सीखे और समझने साहिबानि आलीशान के

---

१. Proceedings of the college of Fort William. Home Misc. Vol I, P 275.

२. Proceedings of the college of Fort William. Home Misc. Vol. III, p 486-487.

३. Proceedings of the college of Fort William. Home Misc Vol I, p 350-354.

४. The Hindi-roman ortho-epigraphical ultimatum (1804) Calcutta.

५. आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० ३८८, पाद टिप्पणी—डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय।

६ (१) बज्म इ हैरत में मिसाले शमा हर अतले नियाज, ऐ जवां! रखता है, क्या-क्या दिल में अपने सोज औ साज (२) जवां बस दिल लगा त दास्तां पर यहां से यूं है अब आग़ाज़ इसका The Hindee roman ortho ephigraphical ultimatum

बमजिब फरमाने जनाब जान गिलक्रिस्त साहिब दाम इकबाल्हु के जबानि सहल में जो खाम औ आम बोलते है और जिसे आलिम औ जाहिल, गुनी कूढ़ सब समझ, और हर एक की तबीअत पर आसान हो, मुशकिल किसी तरह की ज़िहन पर न गुजरे, और ब्रज की बोली अक्सर उसमें रहे, श्री लल्लूलाल कवि की मदद से, बयान किया था।[1]

डा० वार्ष्णेय ने ब्रिटिश म्यूजियम में सुरक्षित 'माधोनल' का जो प्रारम्भिक अंश उद्धृत किया है उसके अनुसार, 'बाद इसके अजफुल ए बाद अहकरुन्नाम मजहर अली खां मुतखल्लिस ब विला यह किस्सा 'माधोनल और कामकन्दला का कि जबान इ बृज में मोतीराम कवीश्वर ने कहा है बमूजिबे फरमाइश जनाब गिलक्रिस्त साहब दाम इकबालहु के बमुहावरा जबान-इ-उर्दू बयान करता है।'[2]

ब्रिटिश म्युजियम में सुरक्षित[3] शकुन्तला नाटक 'माधोनल' और 'बैताल पच्चीसी' की हस्तलिखित प्रतियों में से 'माधोनल' में केवल मजहर अली खाँ 'विला' का उल्लेख है। शेष दो में लल्लूलाल का सहायक रूप में नाम है। सिंहासन बत्तीसी में भूमिका भाग न रहने से निश्चित रूप से उसके बारे में कुछ कहना कठिन है। हां गार्सा द तासी ने अपने प्रसिद्ध इतिहास ग्रथ मे भी लल्लूलाल का उल्लेख चारों ग्रंथो के सहायक रूप में किया है। तासी के कथनानुसार 'सिंहासन बत्तीसी' का एकान्त रचयिता होने का श्रेय लल्लूलाल को नहीं दिया जा सकता। डा० ग्रियर्सन ने तासी को ही आधार माना है। प्रस्तुत प्रमाणों के अनुसार लल्लूलाल को 'शकुन्तला', बैताल पच्चीसी' और माधोनल का प्रधान रचियता नही कहा जा सकता। यहां एक बार ग्रथों की लिपि और भाषा पर भी दृष्टिपात कर लेना अप्रासंगिक न होगा।

ब्रिटिश म्यूजिमय मे सुरक्षित 'शकुन्तला नाटक', 'माधोनल' और 'बैताल पच्चीसी' की हस्तलिखित प्रतियाँ फारसी लिपि में हैं। गिलक्राइस्ट के 'हिन्दी रोमन ऑर्थो-एपिग्राफिकल अल्टीमेटम' में शकुन्तला का पाठ रोमन लिपि में है। 'हिन्दी-हिन्दुस्तानी सिलेक्शन्स' के प्रथम भाग में, 'बैताल पच्चीसी' नागरी में और द्वितीय भाग में 'शकुन्तला' फारसी लिपि में है। कालेज के विवरणों से ज्ञात होता है कि ये सब पुस्तक प्रारम्भ में आंशिक अथवा पूर्ण रूप में नागरी में छपी थी। विभिन्न प्रतियों में पाठभेद बराबर मिलता है। 'बैताल पच्चीसी' के १८५८ ई० के संस्करण में पर्याप्त परिवर्त्तन कर दिया गया है जैसे ऐक-एक, दुनय-दुनिया, ब्राह्मनी-बिरहमनी, रुपे-रुपये, जस-यश आदि। 'सिंहासन बत्तीसी' और बैताल पच्चीसी' की भाषा का एक-एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

१—"ऐसा कहा है कि जो अपने तईं मारा चाहे, उसके मारने से ऊधम नहीं, उस समै राजा का साहस देख इन्द्र समेत सब देवता अपने-अपने विमानों पर बैठ वहां जै जैकार करने लगे; और राजा इन्द्र ने प्रसन्न हो राजा वीर विक्रमाजीत से कहा कि वर मांग; राजा ने हाथ जोड़ कर कहा, महाराज! यह कथा मेरी संसार में प्रसिद्ध हो, इन्द्र ने कहा, कि जब तक चांद, सूरज,

---

१. बैताल पच्चीसी—भूमिका

२ आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका प० ३८९ डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

३ आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका प० ३९१

पृथवी, आकाश स्थिर है, तब तक यह कथा प्रसिद्ध रहेगी और तू सर्व भूमि का राजा होगा।"[1]

२—'इत्तिफ़ाकन, एक रोज वह मंत्री अपने घर में उदास बैठा था कि इसमें उसकी भार्या ने पूछा, स्वामी ! इन दिनों आपको बहुत दुर्बल देखती हूँ। वह बोला कि जिस दिन मुझे रोज की चिन्ता रहती है, इससे शरीर दुर्बल हुआ है और राजा आठ पहर अपने ऐश आराम मे रहता है। वह मत्री की जोरू बोली कि हे पति ! बहुत दिन तुम ने राजकाज किया अब थोड़े दिनों के लिए राजा से बिदा हो तीर्थ यात्रा करो।"[2]—ग्यारहवी कहानी।

सिंहासन बत्तीसी का प्रथम संस्करण १८०५ ई० में, दूसरा आगरा स्कूल बुक सोसायटी से १८४२ ई० में तथा तीसरा नवलकिशोर प्रेस से १८७३ ई० में प्रकाशित हुआ था। "बैताल पच्चीसी" का प्रथम संस्करण जेम्स मौअट के आदेश पर तारिणी चरण मित्र द्वारा संशोधित करके मुद्रित हुआ था। इस सम्बन्ध में स्वयं तारिणी चरण मित्र ने भी लिखा है कि—'फिलहाल मुवाफिक इरशादि मुदर्रिस हिन्दी खुदावंदि निअमत जानब कप्तान जिमिस मोऊट साहिब (दाम इकबालहु) के तारिणी चरण मित्र ने, छापे के वास्ते संस्कृत और भाषा के अलफाज को दाखिल किया, मगर बजजे लफज हिन्दुओं का, जिनके निकालने से खलल जाना बहाल रखा; उम्मेद है कि हुस्नि कबूल पावे।'[3]

उपर्युक्त उद्धरण से एक बात स्पष्ट है कि इन ग्रंथों का उद्देश्य 'हिन्दुस्तानी' अथवा 'रेखता भाषा के शिक्षणार्थ पाठ्य पुस्तक तैयार करना था। अतः आश्चर्य नहीं कि इनमें संस्कृत, अरबी-फारसी और ब्रजभाषा शब्दों का अद्भुत सम्मिश्रण मिलता हो। अतिथि, पितृघातक, निश्चय, मित्र, कामना, पति, प्रजा, दुर्बल, चिन्ता, धर्मात्मा, राजकन्या, माया, स्वर्ग, पच्छम, सराय, जतन, मूरख, राकस, जात्रा आदि तत्सम, अर्द्ध तत्सम शब्दों के साथ आईन, साज, मअजूनों, कमबख्त, दिक, रोज़, ऐश, जोरू, सियासत, अहल मजलिस, तवज्जुह, मकदूर, वाक़अ जैसे अरबी फारसी के शब्द भी प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। इनके साथ खाय, पाय, गैल, पूछै है, ललक, ताई, व्यालू, रौइयो, भई, बाचैं हैं आदि पंडिताऊ एवं ब्रजभाषा-प्रयोग भी उपलब्ध हैं। उन्ने, विसके, विन्ने, आन पहुँची, आन बैठी जैसे ग्राम्य एवं बोलचाल की खड़ीबोली के प्रयोगों की कमी नहीं। शब्द के वजन पर दोहराने की प्रवृत्ति भी लक्षित होती है जैसे दया-मया, पंछी-पखेरू, अछता-पछता आदि। इंशाअल्ला खाँ की शैली पर 'ठंडी-ठंडी हवाएँ आतियाँ थीं', 'यह सुन रानियाँ एकदम चुप होकर फिर बोलियों' आदि वाक्य मिलते तो हैं पर अपेक्षाकृत कम। दोनों ग्रंथों की भाषा मे कहावतों-मुहावरों के उपयोग के कारण चलतापन और जिन्दादिली है। इस अद्भुत सम्मिश्रण का कारण तो लेखक ने पहले ही स्पष्ट कर दिया है कि, 'खास औ आम बोलने वालों,' आलिम

---

१. आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० ३९१

२. बैताल पच्चीसी, पृ० ७३—Reprinted from the new edition of Eshwar Chandra Vidyasagar, Principal of the Sanskrit college Pub., W. Nassan Lees Calcutta Sanskrt Press 1858

३ बैताल पच्चीसी पृ० १ संस्कृत प्रेस १८५८ ई०

और कढ के लिए तबीअत पर आसान हो और ब्रज की बोली अकसर लिए हुए हो यह भाषा के उस सरल और जनसाधारण रूप की ओर संकेत करता है जो उस समय सर्वसाधारण में प्रचलित थी। 'सिंहासन बत्तीसी' की भाषा में 'बैताल पचीसी'[1] की अपेक्षा उर्दू शब्दों का प्रयोग और उर्दू की बानी अधिक है। वाक्य विन्यास भी प्रायः हिन्दी का नहीं, यथा 'शुरुअ कहानी का यिह है' 'किस देश से आये हो और क्या तुम्हारा नाम है, आदि। और माधोनल' और शकुन्तला नाटक' में तो यह उर्दूपन और भी अधिक देखने में आता है; देखिए :—

१—और राजा गोबिन्दचन्द दानिश ओ बख्शिश में यकता नेक अफआल खजिस्ता खसाल महर से मामूर इल्म ओ हया से मशहूर सूरत व सीरत में खूब खल्क तालिब वह मतलूब दोस्त उसके लुत्फ़ से शाद और दुश्मन कहर से बरबाद जाबजा उसकी धाक गरज वहां का राज राजा इन्दर की तरह का था —माधोनल[2]

१—दरख्तों की छाव में खड़ी होकर, अपने-अपने जोबन पर एक एक मगरूर थी, लेकिन उन सभों में सकुन्तला अपने हुस्न ओ अदा में बहुत दूर थी; : चमकावट उसके चिहरे की, अजब जलवे दिखाती थी, और जुल्फें बिखरी हुई मुह पर उसके, इस रंग से नजर आतियां थीं जैसे नमुद धुवें की शुअले पर होती है, या जैसे कुछ-कुछ घटा सूरज पर आ जाती हैं; निगाह बिजली थी, कि नजरों में कौंध जाती थी।—शकुन्तला नाटक[3]

दोनों ग्रंथों की भाषा में यद्यपि कामदेव, मनोज, सखी, तपस्वी, गुनी, बिरह, कवल, भंवरा, विचार, तप, बन, चतुराई, कीजियो, हूजिये आदि हिन्दी के शब्द मिल जाते हैं किन्तु अनुपात में इनकी संख्या अत्यल्प है। इनमें तो मुश्ताक़, तालआ, मुस्तफ़ा, अफ़आल, मुतवक्कय, साहब-इ-इल्म, इबादत, रियाजत, मकासिद, दरख्त, आदि शब्दों की ही प्रचुरता है। इनके साथ वाक्य रचना भी प्रायः विदेशी है जैसे 'सखियां दौड़ी आइया।' 'सखियां कंवल की पत्तियों का का पंखा बना हिलातियां हैं,' 'यहां से बातें होतियां हैं,' 'सखियां खुश खुश हुइयां फिर आपस में बोलियां' आदि। सच तो यह है कि 'बैताल पच्चीसी' 'सिंहासन बत्तीसी' 'माधोनल' और 'शकुन्तला नाटक' सबकी भाषा रेखता अथवा 'उर्दू' है। ऐतिहासिक एवं साहित्यिक दोनों दृष्टि से ये लल्लूलाल के प्रयास लक्षित नहीं होते, साथ ही हिन्दी गद्य के विकास में इनका महत्त्व नगण्य होगा।

अब लल्लूलाल की अन्तिम विचारणीय रचनाएँ दो रह जाती हैं—'लतायफ़-इ-हिन्दी' तथा 'प्रेमसागर'। लतायफ़-इ-हिन्दी' अथवा 'नक़लियात-इ-हिन्दी' कहावतों से पूर्ण तथा बामुहावरा हिन्दुस्तानी और 'हिन्दुई' की कहानियों का संग्रह है। लेखक ने यह संग्रह फ़ारसी तथा नागरी दोनों लिपियों में छपवाया था और परिशिष्ट में कठिन शब्दों का अंग्रेजी अनुवाद भी जोड़ा है। पहले

---

१. Proceedings of the college of Fort William, 16th Sept. 1805-27th January 1809. Home Misc. Vol. II, P. 62-63.

२. आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० ३९७—डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

३ The Hindee Roman ortho-epigraphical ultimatum (1804) Calcutta P 38

बताया जा चुका है कि २४ जनवरी १८१० ई० को टेलर ने कौंसिल के मंत्री विलियम हंटर को प्रार्थना-पत्र में 'हिन्दुस्तानी' के ज्ञान के लिए इन रचनाओं को उपयोगी बताया था।

'लतायफ़-इ-हिन्दी की प्रत्येक कहानी का शीर्षक 'नक़ल' होने के कारण इसे 'नक़लियात-इ-हिन्दी' भी कहा गया है। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है कहानियाँ प्रायः हास्यपूर्ण हैं।[1] पाठ में ब्रजभाषा के दोहे और फारसी पद्यांश भी मिलते हैं। बाद के संस्करणों में आवश्यकतानुसार परिवर्तन कर दिया गया है। उदाहरणार्थ विलियम कारमाइकेल स्मिथ द्वारा सम्पादित तथा लन्दन से प्रकाशित (१८२१ ई०) संस्करण में नागरी के स्थान पर रोमन लिपि का व्यवहार किया गया है और नवाब बिदनूर के वकील के मुंशी मीर अफ़ज़ल अलीकीसहायता से भाषा सम्बन्धी अशुद्धियों का संशोधन करके कुछ ऐसी कहानियाँ निकाल दी गई हैं जिनमें ब्रजभाषा के दोहे अधिक हे। कारण यह है कि हिन्दुस्तानी सीखने के लिए ये अनावश्यक समझी गई। इस संस्करण में ८६ नकलें हैं। नकलों की भाषा में दरूद, वाइज, कजाकार, हयात, फजल, तरद्दुद, जराफत, बेहिजाब आदि अरबी-फारसी शब्दों के साथ दोष, विद्या, बन, नाथ, खटराग, मुआ, नित, रैन, सींठा, ढब, जी, सिंगार आदि तत्सम, तद्भव अथवा देशज शब्द सम्मिश्रित हैं यद्यपि इनकी संख्या अनुपात में कम है। हां कहीं-कहीं तत्कालीन सरल हिन्दुस्तानी में प्रचलित यातें, देख्यो, चालियो, कियो हो, लियो हो जैसे ब्रजभाषा-रूप अवश्य मिल जाते हैं। वाक्य-विन्यास पर उर्दू की छवि हे। दो-एक उदाहरण द्रष्टव्य है :—

१—'पठानों की किसी बसती मे एक मुल्ला था-जो कुछ फातिह: दरूद का उनके काम होता उसको बुला लेते और अपना काम करवा लेते। इसमें शब बरात जो आई तो हर एक के घर मे उसे बुलाहट हुई। तब उसके किसी आशना ने पूछा कि कहो दोस्त आज तुम अकेले क्या करोगे और किस तरह घर-घर फातिह: पढ़ोगे। बोला भाई मुझे फतिह: पढ़ने से क्या काम मुर्द: दोजख जाए या बिहिश्त, मुझे अपने हलवे मांड से काम है।'[2]—नकल ४

२—'कोई शख्स किसी पर आशिक था पर मारे हिजाब के अपना इश्क उसके आगे इजहार न करता और जिस पै आशिक था वह भी जानबूझकर शरम से कुछ न कहती। एक रोज वे दोनो किसी (के घर ?) पर रात को बैठे थे कि एक परवाना शमा पर आ जला—उसको जलता देख आशिक ने किनाए से यह दोहा पढ़ा—

> आह दई कैसी बनी अनचाहत को संग,
> दीपक के भावै नहीं जल जल मरे पतग।

इसके जवाब में माशूक ने भी यह दोहा कह सुनाया—

---

१. 'Hindoostanee Text Book, Containing a choice collection of Humorous Stories.

२ ——— हिन्दी पृ० ८, ६२ ६४—सं० विलियम कारमाइकेल स्मिथ (लन्दन १८२१)

व्याव पतग निसक जल जरत न मा⁻ा अग
पहले तो दीपक जल पाछे जल पतग ।'—नक़ल ४१

इन लतीफ़ों की भाषा सरल हिन्दुस्तानी है। स्वयं लेखक ने अपने पत्र में इसे बज़ुबान-इ-रेख़्ता'[२] कहा है। कालेज के विवरणों में भी इसे 'उर्दू और हिन्दुई में कहानियों का संग्रह' कहा गया है। परन्तु देखा जाय तो इसमें 'हिन्दुई' या 'हिन्दवी' का स्थान नगण्य सा है। उर्दू की चुस्ती और जिन्दादिली को दिखाने के लिए सारी रचना में उर्दू के मुहावरे और कहावतें भरी पड़ी है। कदाचित् इसी लिए टेलर ने इसे 'हिन्दुस्तानी' के ज्ञान के लिए उपयोगी ग्रंथ कहा था। अत 'लतायफ़-इ-हिन्दी' भी खड़ीबोली गद्य के अध्ययन में विशेष महत्त्व नहीं रखता।

वास्तव में लल्लूलाल का अक्षय कीर्ति स्तम्भ उनका प्रसिद्ध खड़ीबोली ग्रन्थ 'प्रेमसागर' है। इसका प्रथम संस्करण (अपूर्ण) १८०३ ई० में तथा दूसरा (पूर्ण) १८१० ई० में प्रकाशित हुआ था। दोनों संस्करणों में बिसवे-बिस्वे, अधरम-अधर्म, सामरथ-समर्थ, आदि तथा कुछ विराम-चिह्न और प्रत्येक प्रकरण की पुष्पिका से सम्बन्धित साधारण भेद को छोड कर मूल पाठ में कोई अन्तर नही है। ग्रंथ के दो खण्ड हैं और दोनों में मिल कर नब्बे (५०+४०) प्रकरण हैं। १८०३ ई० वाले सस्करण में पूर्वार्द्ध भाग प्रधान है, उत्तरार्द्ध का केवल एक प्रकरण दिया है। इस संस्करण में केवल १७६ पृष्ठ हैं और १८१० ई० वाले में कुल ४३० पृष्ठ हैं। पूर्ण संख्या के अन्त मे 'अशुद्धनामा (पिष्टों सहित) 'और 'सूची-पत्र' भी है। प्रेमसागर के १८०३ ई० वाले संस्करण के मुख्यपृष्ठ का पाठ इस प्रकार है —

श्रीगणेशायनम:

प्रेमसागर बना खडी बोली में श्री भागवत के दसमस्कंध से जो ब्रजभाषा में है पाठशाला के लिये श्री महाराजाधिराज सकल गुन निधान महाजान पुन्यवान मारकोइस वलिज़ली गवरनर जनरल प्रतापी के राज में बनाया हुआ श्री लल्लूजी लाल कवि का श्रीयुत गुनगाहक गुनियन सुखदायक जान गिलक्रिस्त महाशय की आज्ञा से कवि पंडित मंड़ित किये नगभूषन पहिराइ गाहि गाहि विछ्या सकल-वस कीनी चित चाइ दान रौर चहुं चक्र में चढ़े कविन के चित आवत पावत लाल मनि हम हाथी वहुवित। दोनों संस्करणों की भूमिका भी क्रम से इस प्रकार है —

(१) विघन विदारन विरदवर वारन वदन विकास। वर दे बहु बाढ़ें विसद वानी बुद्धि विलास। युगल चरन जो वन जगत जपत रैन दिन तोहि। जगमाता सरस्वति सुमिरि युक्ति उक्ति दे मोहि।

ऐक समै व्यासदेव कृत श्रीमत भागवत के दसम स्कंध की कथा को चतरभुज मिश्र ने दोहे-चौपाई में ब्रजभाषा किया सौ पाठशाला के लिये श्री महाराजाधिराज सकल गुननिधान पुन्यवान महाजान मारकोइस वलिजली गवरनर जनरल प्रतापी के राज में औ श्रीयुत गुनगाहक गुनियन

---

१. लतायफ़-इ-हिन्दी, प० ८, ६२—६४—स० विलियक कारमाइकेल स्मिथ (लन्दन १८२१)

२ फोर्ट विलियम कालेज प० १००—डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

सुखदायक जान गिलकिरिस्त महाशय की आज्ञा से संवत् १८६० में श्री लल्लूजीलाल कवि ने विसका सार ले यामिनी भाषा छोड़ दिल्ली-आगरे की खड़ीबोली में कह नाम प्रेमसागर धरा।[1]

सन् १८०३ का संस्करण

(२) विघन विदारन विरद... ... उक्ति दे मोहि

एक समै व्यासदेव कृत श्रीमत भागवत......प्रतापी के राज मे ०० कवि मडित किये....... हय हाथी वहु वित्त ०० और श्रीयुन.......संवत् १८६० में श्री लल्लूजी लाल कबि ब्राह्मण गुजराती सहस्र अवदीच आगरे वाले ने विसका सार ले यामिनी भाषा छोड दिल्ली आगरे की खड़ीबोली में कह नाम प्रेमसागर धरा पर श्रीयुत जान गिलकिरिस्त महाशय के जाने से बना अधबना छपा अवछपा रह गया था सो अब श्री महाराजेश्वर अति दयाल कृपाल यसस्वी तेजस्वी गिलबर्ट लार्ड मिंटो प्रतापवान के राज में और श्री गुनखान सुखदान कृपानिधान भागवान कपतान जान उलियम टेलर प्रतापी की आज्ञा से और श्रीयुत परम सुजान दयासागर परोपकारी डाक्तर हटर नक्षत्री की महायता से और श्री निपट प्रवीन दयायुत लिपटन अबराहम लाकट रतीवंत के कहे से उसी कवि ने सवत् १८६६ में पुरा कर छपवाया पाठशाला के विद्यार्थियो के पढ़ने को।

ब्रह्म नागकुलि राग ऋषि मिल संवत निर्धार ०

श्रावन कृष्न त्रयोदेशी भयौ ग्रंथ रविवार ०[2]—१८१० ई० का संस्करण

श्रीमद्‌भागवत् के दशमस्कन्ध के व्रजभाषा पाठ को खड़ीबोली में प्रस्तुत करने से स्पष्ट है कि प्रेमसागर में विषय की दृष्टि से कोई नवीनता नहीं है। इसमें पीढ़ाबंध, देवकी-विवाह, गर्भ-स्तुति, कृष्ण-जन्म, कन्या-ग्रहन, कंस-उपद्रव, कृष्ण-जन्मोत्सव से लेकर नर-नारायण नारदसंवाद, रुद्र-मोक्ष, विकासुर-वध, द्विजकुमार-हरन और द्वारिका विहार बरनन तक की कथा दी हुई है।

लल्लूलाल का 'यामिनी भाषा को छोड़ दिल्ली-आगरे की खड़ीबोली में' 'प्रेमसागर' रचना वस्तुतः उस बोली का रूप प्रस्तुत करने का प्रयास था जिस पर 'हिन्दुस्तानी' अथवा 'उर्दू' का प्रासाद टिका हुआ था, जो मुसलमानो के आक्रमण से पूर्व सारे हिन्दुस्तान मे प्रचलित थी, जिसमें संस्कृत के तत्सम और तद्‌भव शब्दों का प्राधान्य था जिसे हिन्दू बोलते थे और जिसे मुसलमान लुच्च हिन्दी (?) नीच हिन्दी या ठेठ हिन्दी कहते थे।[3] फ़ोर्ट

१-२. आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० ४०३-४०४—डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

३. The ancient language spoken in the cities of Dillee and Agra, and still in general use among the Hindoos of those cities, is distinguished by the inhabitants of Braj, by the name of K'huree Bolee, and by the moosulmans indiscriminately by looch Hindee nich, hu, ch,h Hindee or in the theth Hindee, and when mixed with the Arabic and Persian from what is called the Rekhtu or oordoo"—See. Preface, Principles of inflexion and conjugation n the Braj Bhakha 1811

विलियम कालेज के विवरणों में इस भाषा को प्रायः 'हिन्दवी' हिन्दुई', ठेठ बोली या खड़ीबोली कहा गया है।[1] इस भाषा को सुनिश्चित रूप से 'खड़ीबोली' नाम देने का श्रेय भी लल्लूलाल को ही दिया जा सकता है क्योंकि इससे पूर्व किसी साहित्य अथवा ऐतिहासिक ग्रंथ में 'खड़ीबोली' शब्द उपलब्ध नहीं होता यद्यपि स्वयं लल्लूलाल के कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि यह शब्द (खड़ीबोली) उनके समय में प्रचलित था।[2] लल्लूलाल की नियुक्ति सिविल सर्विस के विद्यार्थियों को 'हिन्दुस्तानी' की इसी आधारभूत भाषा का ज्ञान कराने के लिए हुई थी। 'प्रेमसागर' की रचना का मूल उद्देश्य यही था। 'यामिनी भाषा' को त्याज्य मानकर 'प्रेमसागर' में जिस भाषा का उपयोग किया गया उसके दो-एक उदाहरण दृष्टव्य हैं:—

१—'आगे सब स्त्री श्री कृष्णचंद के साथ बिहार करें और सदा सेवा में रहें प्रभु के गुन गावें और मनवांछित फल पावें—प्रभु गृहस्त धर्म से गृहस्ताश्रम चलावें० महाराज सोलह सहस्र, एक सौ साठ श्री कृष्णचंद की कन्या थी औ उनकी सन्तान अनगिनत हुई—सो मेरी सामर्थ नही जो विनका बखान करूँ० पर मैं जानता हूँ कि तीन करोड़ अट्ठासी सहस्र, ऐका सौ चटसाल थीं श्री कृष्णचंद की संतान के पढ़ाने को औ इतने ही पाड़े थे० आगे श्री कृष्णचंद जी के जितने बेटे पोते नाती हुये रूप बल पराक्रम धन धर्म में कोई कम न था ऐक ऐक से बढ़कर था उनका बरनन मैं कहा तक करूं० '—१८१० ई० का संस्करण' पृ० ४२२-४२३

२—महाराज जब तक बाणासुर एक अक्षौहिनी दल साथ ले वहां आया तब तक कटरा श्री कृष्न जी के आगे से न हटी पुत्र की सेना देख अपने घर गई आगे बाणासुर ने आय बड़ा युद्ध किया। पर प्रभु के सन्मुख न ठहरा फिर भागा महादेवजी के पास गया। बाणासुर को भयातुर देख शिवजी ने अति क्रोधकर महा विषम ज्वर को बुलाय श्री कृष्णजी की सेना पर चलाय वह तेजस्वी जिस का तेज सूरज की समान तीन मुंड नौ पग छह कर वाला त्रिलोचन भयानक महाबली भेष ० श्री कृष्ण के दल को आय साला।—सं० १९२० का संस्करण, पृ० २१३

दोनों संस्करणों में लगभग आधी शताब्दी का अन्तर है। इनकी भाषा का अध्ययन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि प्रेमसागर के बाद के संस्करणों में भाषा सम्बन्धी पर्याप्त सुधार हो चुके थे। अतः लल्लूलाल के 'प्रेमसागर' की भाषा का स्वरूप समझाने के लिए उनके जीवन काल में मुद्रित संस्करणों को ही आधार बनाया जा सकता है। व्याकरण की कसौटी पर प्रेमसागर की भाषा की समीक्षा करने पर ज्ञात हो जाता है कि लल्लूलाल पर उनके निवास स्थल (आगरा) का पर्याप्त प्रभाव पड़ा था। भाषा प्रायः ब्रजरंजित है। उसमें छोड़यो, जाड़यो, सांझ, आय, लाय, खाय, तिनके, विसके, ब्याहन जोग, लीजो, कीजो, दीजो जेवन, चरावन, अबकी बेर, हाल उठे आदि प्रयोगों का बाहुल्य है। भाषा में प्रायः तद्भव रूपों का ही प्राधान्य है जैसे कृपन, मरघा, सराय, पिरथी, पतिवरता, पंछी, जीवन, परजा, गरब आदि। जिस प्रकार संज्ञा शब्दों में कोई

---

१. हिंदुस्तानी-भाग २१-अंक १, जनवरी-मार्च १९६०, पृ० ९७—१०१—लेo—खड़ीबोली शब्द का प्रयोग और अर्थ"

२. "......" is distinguished by the inhabitants of Braj by the name of K huree bolee

निश्चित रूप नहीं मिलता उसी प्रकार क्रिया-प्रयोग भी अनेक रूपात्मक है यथा पिरथी, पृथ्वी, प्रथिवी, पृथी, प्रथी, गर्भ, गरम, सर्व, सरप, पतिव्रता, पतिवरता, योतिषी, योतिषियों, जोतिषियो महाभारत, महाभारथ, श्राप, सराप, बुलाय, बुला, बुलाके, बुलाकर, कह, कहके, कहकर आदि। विनसूं, बिन्ने आदि बोलचाल के ब्रजभाषा शब्द, आनकर, होंकती, धुकुड पुकुड, अछताय, पछताय जैसे बोलचाल की खड़ीबोली के शब्दों के साथ हम्हारे, चूंव (चूम) रक्खा, भूं (भूमि) जैसे प्रयोग भी उपलब्ध हैं। भाषा प्रायः कथावाचकों की सी है। वाक्य संगठन में पद्य के अनुकूल तुकबन्दी सी है जैसे 'हम गोपी है दासी तुम्हारी वेग सुध लीजे दया कर हमारी,' 'जब से सुन्दर सावली सलोनी मूरति है हेरी, तद से हुई है विन मोल की चेरी।' यही नहीं भाषा को काव्यानुकूल उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अनुप्रास आदि अलंकारों से भी सज्जित किया गया है। जैसे मुखचन्द्र की ज्योति देख पूर्णमासी का चन्द्रमा छविहीन हुआ, ' 'आँखों की बड़ाई चंचलताई देख मृगमीन खंजन खिसाय रहे, 'भौंह की बंधाई निरख धनुप धकधकाने लगे आदि। भाषा में लाक्षणिक प्रयोगों तथा कहावतों-मुहावरों का भी अभाव नहीं। ग्रंथ में स्थल-स्थल पर लेखक के स्वरचित दोहे चौपाइयाँ हैं। इनके साथ भाषा ऐसे शब्द भी मिश्रित हैं जो बाद की साहित्यिक हिन्दी में (परिनिष्ठित खड़ीबोली में) स्वीकार नहीं हुए। राजा शिवप्रसाद ने अपने गुटके (खण्ड १) में ऐसे शब्द संगृहीत किये हैं जैसे सौही, बिन, माया, बड़, गये, अबही, तद, तद, धाया, बिरियां, दीसे, बिन्हों आदि। इनमें से कुछ शब्द ब्रजभाषा के हैं और कुछ खड़ीबोली के बोल-चाल के रूप मे आज भी सुनने को मिल जाते हैं। इस प्रकार के विचित्र सम्मिश्रण के कारण प्रेम-सागरी भाषा काव्य का आभास लिए विशृंखल सी लगती है। उसमें ब्रज का सा माधुर्य और सरसता है जो खड़ीबोली की प्रकृति के अनुकूल नहीं। सभवतः इसीलिए पं० रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है कि, 'लल्लूलाल जी का काव्याभास गद्य भक्तों की कथा-वार्त्ता के काम का ही अधिकतर है, न नित्य व्यवहार के अनुकूल है, न संबद्ध विचारधारा के योग्य।"[१]

किन्तु सच तो यह है कि इस पुस्तक की रचना पाठ्य-पुस्तक के रूप में हुई थी। लल्लूलाल का उद्देश्य 'यामिनी भाषा' को यथाशक्ति बचाना था उसे ब्रजरंजित होने से बचाना नहीं। लेखक गद्य का अधिक से अधिक ग्राह्य बनाना चाहता था। भाषा की अभिव्यंजना शक्ति बढ़ाने एव चमत्कार पूर्ण और आकर्पक बनाने की धुन में भाषा में कृत्रिमता शिथिलता और अव्यवहारिकता का सन्निवेश हो गया हो तो विशेष आश्चर्य नहीं। कदाचित इसीलिए प्रेमसागरी भाषा परवर्ती साहित्यकारों का कोई पथ-प्रदर्शन न कर सकी। किन्तु 'प्रेमसागर' और उसकी भाषा के ऐतिहासिक महत्त्व की उपेक्षा नहीं की जा सकती। उसने कृत्रिम ही सही, हिन्दुस्तानी की आधारभूत भाषा प्रस्तुत करके बोलचाल की भाषा के अस्तित्व की घोषणा की, उसमें पुनर्जीवन का संचार किया। 'हिन्दुस्तानी' अथवा 'उर्दू' की चकाचौंध से मार्ग भ्रष्ट शासक, शासित, विद्यार्थी और विद्वत्समाज के समक्ष 'खड़ीबोली' का रूप प्रस्तुत कर उनका मार्ग निर्देश किया। अतः 'खड़ीबोली' नाम भाषा-संपोषण और उसके गद्य-साहित्य के उन्नयन के लिए आधुनिक साहित्य लल्लूलाल का चिर ऋणी रहेगा।

---

१ आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका पृ० ४०८——डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय